Ph.D. Thesis

आदिवासी विमर्श के संदर्भ में समकालीन हिन्दी उपन्यास

Aadivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein Samakaleen Hindi Upanyas

Thesis Submitted to

Cochin University of Science and Technology

for the award of the Degree of

Doctor of Philosophy

In

HINDI

Under the Faculty of Humanities

By

राधिका सी.आर

RADHIKA C.R.

Dr. R. SASIDHARAN
Professor
Head of the Department

Dr. N. MOHANAN
Professor (Retd)
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science and Technology
Kochi - 682 022

January 2020

CERTIFICATE

This is to certify that this thesis entitled **"Aadivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein Samakaleen Hindi Upanyas”** is a bonafide record of research work carried out by **RADHIKA C. R** under my supervision for **Ph.D.** (Doctor of Philosophy) Degree and no part of this has hitherto been submitted for a degree in any university. All the relevant corrections and modifications suggested by the audience during the pre-synopsis seminar and recommended by the Doctoral committee of the candidate has been incorporated in the thesis.

Dr. N. MOHANAN
Professor
Supervising Teacher

Department of Hindi
Cochin University of Science & Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin
Date : .01.2020

DECLARATION

I hereby declare that the work presented in this thesis entitled **"Aadivasi Vimarsh Ke Sandarbh Mein Samakaleen Hindi Upanyas"** based on the original work done by me under the guidance of **Dr. N. MOHANAN**, Professor, Dept. of Hindi, Cochin University of Science and Technology, Cochin - 682022 and no part of this thesis has been included in any other thesis submitted previously for the award of any degree in any other university.

RADHIKA C. R
Department of Hindi
Cochin University of
Science and Technology
Kochi - 682 022

Place: Cochin

Date : .01.2020

पुरोवाक्

पुरोवाक्

आदिवासी विमर्श आदिवासी जीवन की सजगता का परिणाम है। आदिवासी विमर्श का मुख्य लक्ष्य है अपने अस्तित्व और अस्मिता की खोज। 1990 के बाद की आर्थिक उदारीकरण की नीतियों से आदिवासी शोषण की प्रक्रिया तेज़ होने लगी। इस शोषण के खिलाफ आदिवासी ने अपनी अस्मिता और अस्तित्व की रक्षा केलिए राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न आन्दोलन चलाए उसके साथ उनके साहित्य का भी आविर्भाव हुआ। उनका साहित्य उनके प्रतिरोध का दस्तावेज़ है। समाज, धर्म, संस्कृति और राजनीति के नाम पर आदिवासियों को बहिष्कृत करके उनकी अस्मिता को खत्म करने की साजिशें आज चल रही हैं। इससे सचेत करता है 'समकालीन आदिवासी साहित्य'।

समकालीन आदिवासी साहित्य के रूप बहुमुखी, व्यापक और यथार्थ परक हैं। यह प्रतिबद्ध साहित्य है जिसका लक्ष्य समाज और मानव का कल्याण है। वह जनतांत्रिक है, समता, बराबरी और भाई चारा में विश्वास रखता है। शिक्षा के महत्व को समझते हुए यह साहित्य-लेखन आज साक्षरता और चेतना, जन-जागृति के अभियान के साथ आगे बढ़ रहा है।

समकालीन आदिवासी साहित्य में आदिवासी उपन्यासों का महत्वपूर्ण स्थान है। दो प्रकार के आदिवासी उपन्यास उपलब्ध हैं। आदिवासियों द्वारा लिखे गये उपन्यास और आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गए गैर

आदिवासियों के उपन्यास। समकालीन संदर्भ में आदिवासी उपन्यासों ने अपनी अलग पहचान बना ली है। इसमें आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संघर्ष का इतिहास वर्तमान है। इसलिए शोध का विषय रखा गया है **'आदिवासी विमर्श के सन्दर्भ में समकालीन हिन्दी उपन्यास'।**

विषय के उचित विवेचन एवं विश्लेषण के लिए उसे पाँच अध्यायों में विभक्त किया गया है। अंत में उपसंहार है।

इस शोध प्रबंध का पहला अध्याय है **आदिवासी विमर्शः स्वरूप एवं अवधारणा**। प्रस्तुत अध्याय में विमर्श, समकालीन संदर्भ के विविध विमर्श, आदिवासी विमर्श और आदिवासी साहित्य पर प्रकाश डालते हुए आदिवासी कौन, आदिवासी अस्मिता, दर्शन और आदिवासी संघर्ष की भी चर्चा की गयी है।

दूसरा अध्याय है **'समकालीन हिन्दी उपन्यास में आदिवासियों के सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष'**। प्रस्तुत अध्याय में आदिवासी उपन्यासों के आधार पर आदिवासी समाज के सामने उपस्थित सामाजिक एवं आर्थिक पहलुओं पर विचार विश्लेषण किया गया है। आदिवासी समाज समानता का समाज है। उनकी जीवन शैली मनुष्य, प्रकृति तथा जीवन जंतुओं के साथ ताल मेल से जीने की है। लेकिन आदिवासी समाज पर हमेशा बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप होता रहा है। इससे उनके जीवन में बहुत समस्याएँ आ जाती हैं। वर्तमान संदर्भ में नई उदारवादी आर्थिक नीतियों की शुरुआत के कारण विदेशी कंपनियों द्वारा आदिवासी इलाकों का अंधाधुंध दोहन शुरु हुआ।

जंगल, नदी, पहाड आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों को मुनाफा कमाने का केन्द्र बन गया। इससे सामाजिक और आर्थिक स्तर पर उनके जीवन में जो परिवर्तन हुए उसकी अभिव्यक्ति समकालीन आदिवासी उपन्यासों में हुई है। उसका अध्ययन इस अध्याय में किया गया है।

तीसरा अध्याय है **'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति'।** प्रस्तुत अध्याय के अंतर्गत आदिवासी जीवन में राजनीतिक हस्तक्षेप, विकास की राजनीति, वननियम, राजनीतिक अपराधीकरण आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। जंगल और आदिवासी इलाकों में विकास और आधुनिक सुविधाओं के लिए अंग्रेज़ों के ज़माने से शुरु हुए राजनैतिक शासन और हस्तक्षेप देश के स्वतंत्र होने के पश्चात भी ज़ारी रहे। देश के विकास के लिए आदिवासी समाज भी भाग लेने के लिए तैयार है। राजनीति को वह अपनी जीविका, शिक्षा, रोज़गार, स्वास्थ्य, वैज्ञानिक चिंतन आदि में स्थान देने का प्रयत्न करता है। पर वर्तमान राजनीति उन्हें खुले दिल से स्वीकारने के बदले अपने शोषण का साधन बना लेती है। इस यथार्थ का विश्लेषण इस अध्याय में किया गया है।

'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का विस्थापन' शीर्षक चौथे अध्याय में विस्थापन के विभिन्न पहलू आदि पर चर्चा की गयी है। वर्तमान संदर्भ में आदिवासियों को जंगल से निकालने का षड्यंत्र चल रहा है। इसमें सरकार बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ है तथा वर्तमान राजनीतिक दल भी हैं। इसलिए आदिवासियों का वर्तमान संकटग्रस्त है। इस संकट कि

स्थिति में उन्हें विभिन्न कारणों से विस्थापित होता पड़ता है। परिणामतः उनकी सुरक्षा, अस्मिता संस्कृति, आवास व्यवस्था, आर्थिक स्थिति सब कुछ नष्ट होने की स्थिति में है। समकालीन आदिवासी उपन्यासों में विस्थापन से जूझते आदिवासियों के संघर्ष का चित्रण है। उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन है इस अध्याय में।

पाँचवाँ अध्याय का शीर्षक है **'समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का साँस्कृतिक यथार्थ'**। किसी भी राज्य की पहचान वहाँ की संस्कृति होती है। सामूहिकता, सहअस्तित्व, सहभागिता, आदिवासी संस्कृति के सबसे महत्वपूर्ण पक्ष हैं। इस अध्याय में आदिवासी जीवन की विशिष्ट संस्कृति, लोक साहित्य, लोकगीत, लोक कथाएँ, रीति-रिवाज़, उत्सव-त्योहार, धार्मिक विश्वास आदिवासी भाषा, शिक्षा का महत्व आदि पर प्रकाश डालने का प्रयास है। परिश्रम, सहकार्य आदि से युक्त आदिवासी संस्कृति मानवता, प्रकृति प्रेम और पुरखों के प्रति आस्था रखनेवाली है। प्रस्तुत अध्याय में आदिवासियों की इस सांस्कृतिक खासियतों का अध्ययन करने का कार्य भी किया गया है।

पाँचवां अध्याय के बाद उपसंहार है। उसमें समकालीन आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श की जो अवधारणा है उसका निचोड़ प्रस्तुत किया गया है।

अंत में उन सभी ग्रंथों एवं पत्रिकाओं की सूची दी गयी है जिनका उपयोग शोधकार्य केलिए किया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग के आचार्य आदरणीय डॉ.एन. मोहनन जी के निर्देशन एवं निरीक्षण में संपन्न हुआ। समय समय पर उन्होंने जो प्रेरणा एवं प्रोत्साहन मुझे दिए हैं उसी के बलबूत्ते पर मैं आज इस मंजिल तक पहुँच सकी हूँ। शोधकार्य केलिए ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत जीवन में भी मुझे उनका बहुमूल्य सुझाव प्राप्त हो रहा है। आपके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने में मैं असमर्थ हूँ। फिर भी इस अवसर पर उनके प्रति हृदय से अपना प्यार और आभार प्रकट करती हूँ। उनकी मंगलमयी जीवन की कामना करती हूँ। मेरी यह प्रार्थना है कि आगे भी मेरे जीवने के हर कदम पर उनकी आशीष बनी रहे ।

इस संदर्भ में मेरे इस शोध विषय की विशेषज्ञा आदारणीय डॉ. वनजा जी के प्रति भी तहे दिल से धन्यवाद व्यक्त करती हूँ जिन्होंने मुझे अभी तक शोधकार्य और व्यक्तिगत जीवन में भी सही मार्ग दिखाने का प्रतिभापूर्ण कार्य किया, जिसके लिए मैं हमेशा उनकी आभारी हूँ।

मेरे इस शोधकार्य की पूर्ति में विभाग के पुस्तकालय का योगदान महत्वपूर्ण रहा है। हिन्दी विभाग के और विश्व विद्यालय के पुस्तकालय तथा वहाँ के कर्मचारियाँ के प्रति भी आभार प्रकट करती हूँ।

सच्चे दोस्त कभी भी हमें गिरने नहीं देते न ही किसी के नज़रों में और न ही कदमों में। इस शोधकार्य की पूर्ति केलिए मेरी हर छोटी-मोटी ज़रूरतों केलिए बिना किसि हिचक के सदा उपस्थित मेरे प्रिय मित्र लता, जेस्ना,

रेवती, प्रत्युषा, शिल्पा, अभिरामी आदि के प्रति विशेष आभार प्रकट करती हूँ।

यह शोध -प्रबन्ध मेरे पूज्य माताजी और पिताजी को समर्पित है जिन्होंने मुझे यहाँ तक पहुँचने में काबिल बनाया है। मेरी बड़ी बहन अम्बिका और छोटी बहन कार्तिका की असीम प्रेरणा भी इस शोध को सार्थक बनाने में सहायक रही है। अंत में सर्वोपरी मैं उस सर्वेश्वर के प्रति भी आभारी हूँ, जिनकी कृपा से यह कहाँ सहि वक्त पर पूरा हुआ।

मैं यह शोध-प्रबन्ध सविनय विद्वानों के सामने प्रस्तुत कर रही हूँ। इसकी गलतियों एवं खामियों केलिए क्षमा प्रार्थी हूँ।

सविनय

राधिका सी.आर

शोध छात्रा,

हिन्दी विभाग

कोच्चिन विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्वविद्यालय

कोच्चिन - 682 022

तारीख :   .01.2020

विषयप्रवेश

पृष्ठ संख्या

पहला अध्याय 1-57

आदिवासी विमर्शः स्वरूप एवं आवधारणा

भूमिका

1.1 विमर्श अर्थ एवं परिभाषा

1.2 भारत में विमर्श की परंपरा

1.3 समकालीन हिन्दी उपन्यास में विविध विमर्श

1.3.1 स्त्री विमर्श

1.3.2 दलित विमर्श

1.3.3 पारिस्थितिक विमर्श

1.3.4 वृद्ध विमर्श

1.3.5 किसान विमर्श

1.3.6 आदिवासी विमर्श

1.3.6.1 आदिवासी कौन

1.3.6.1.1 जनजाति

1.3.6.1.2 देशज

1.3.6.1.3 आदिवासी

1.4 आदिवासी अस्मिता

1.5 आदिवासी दर्शन

1.6. समकालीन संदर्भ में विविध मुखी समस्याएँ

1.6.1 वन पर आधारित जीविकोपार्ज की समस्या
1.6.2 कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था की समस्या
1.6.3 श्रम की समस्या
1.6.4 मूलभूत आवश्यकताओं की अभाव
1.6.5 ऋणग्रस्तता की समस्या
1.6.6 बेगारी की समस्या
1.6.7 विस्थापन
1.6.8 भाषा की समस्या
1.7 आदिवासी साहित्य
1.7.1 आदिकाल
1.7.1.1 प्रकृति का मानवी रूप में चित्रण
1.7.1.2 लोकगीतों भ ावों की अभिव्यक्ति
1.7.1.3 देशकाल पात्र और घटनाओं के अनुरूप कथा विकास
1.7.1.4. जादु एवं जादू शक्तियों का महत्व
1.7.1.5 पशु-पक्षी द्वारा संदेश भेजना
1.7.2 मध्यकाल
1.7.3 आधुनिककाल
1.7.3.1 आदिवासी काव्य साहित्य
1.7.3.2. नाटक
1.7.3.3 उपन्यास साहित्य
1.7.3.4 कहानी साहित्य
1.7.3.5 निबंध और अन्य रचनाएँ

1.8 समकालीन आदिवासी साहित्य

1.9 आदिवासी संघर्ष के इतिहास

1.9.1 संथाल परगना का विद्रोह

1.9.2 हो विद्रोह

1.9.3 कोल विद्रोह

1.9.4 संथाल विद्रोह

1.9.5 मुंडा विद्रोह

निष्कर्ष

दूसरा अध्याय 58-98

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष

2.1 समाज और साहित्य

2.2. आदिवासी समाज

2.3 आदिवासी समाज और आर्थिक पक्ष

2.3.1 जंगल पर आश्रित जीवन

2.3.2 परिस्थिति शोषण से उत्पन्न समस्याएँ

2.4 बाहरी हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ

2.4.1 अशिक्षा

2.4.2 स्त्री शोषण

2.4.3 गरीबी

निष्कर्ष

तीसरा अध्याय 99-129

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति

3.1 समकालीन साहित्य और राजनीति

3.2 विकास के राजनीति

3.3 आदिवासी समाज में राजनीति हस्तक्षेप

3.4 राजनीतिक अपराधीकरण

3.4.1 राजनीतिक नेताओं की अमानवीयता

3.5 वननियम और आदिवासी जीवन

निष्कर्ष

चौथा अध्याय 130-158

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का विस्थापन

4.1 विस्थापनः अर्थ एवं परिभाषा

4.2 आर्थिक नीतियाँ और विकास योजनाएँ

4.2.1 विकास से उत्पन्न प्राकृतिक आपदाएँ

4.3 विस्थापन

4.3.1 विस्थापन से उत्पन्न बेरोज़गारी

4.3.2 कृषक बनाम मज़दूर

निष्कर्ष

पाँचवाँ अध्याय 159-215

समकालीन आदिवासी उपन्यसों में सांस्कृतिक यथार्थ

5.1 संस्कृति

5.1.1 भारतीय संस्कृति

5.1.2 भूमंडलीय संस्कृति

5.2 साहित्य और समस्कृति

5.3 आदिवासी संस्कृति

5.3.1 लोकगीत

5.3.1.1 आदिवासी साहित्य में लोकगीत

5.3.1.2 संस्कार गीत

5.3.1.3 विवाह गीत

5.3.2 लोक कथाएँ

5.3.2.1 साधु-सन्तों की कथाएँ

5.3.2.2 मिथकीय कथाएँ

5.3.2.3 व्यवहार ज्ञान संबंधी कथाएँ

5.4 आदिवासी संस्कृति में प्रकृति

5.4.1 प्रकृति चिकित्सा

5.4.2 सामूहिक खेती

5.5. आदिवासी धर्म

5.5.1 पूजा पद्धति

5.5.2 पुरखों के प्रति आस्था

5.5.3 शकुन/स्वप्न और भविष्यवाणी
5.5.4 अंधविश्वास
5.6 रीति-रिवाज़ एवं प्रथाएँ
5.6.1 वैवाहिक प्रथाएँ
5.7 आदिवासी संस्कृति और भाषा
5.8 आदिवासी भाषाएँ और वर्तमान संदर्भ
5.9 उत्सव, पर्व, त्योहार और हाट-बाज़ार
5.10 लोक शब्द
5.10.1 सांस्कृतिक लोक शब्दावली
5.10.2 मुहावरे
5.10.2.1 लोकोक्ति
निष्कर्ष
उपसंहार 216-220
सन्दर्भ ग्रंथ सूची 221-234
परिशिष्ट

पहला अध्याय

आदिवासी विमर्श: स्वरूप एवं अवधारणा

आदिवासी विमर्शः स्वरूप एवं अवधारणा

भूमिका

काल और परिवेश के अनुसार साहित्य भी परिवर्तित, परिवर्द्धित एवं परिमार्जित होता रहता है। अतः समय-समय पर विभिन्न आन्दोलन भी होते रहे हैं। हिन्दी साहित्य लेखन परंपरा ने आदिकाल से लेकर आज तक विभिन्न परिवर्तनों के साथ अनेक पड़ाव पार किये हैं। साहित्य रचनात्मक प्रतिरोध है। जब-जब साहित्य में नवीनता की ज़रूरत पड़ी या साहित्य को विकल्प की ज़रूरत हुई तो उस विकल्प या खालीपन को भरने के लिए एक नवीन धारा उभर आती है। आज भी साहित्य समाज के उन सभी संदर्भों को रेखांकित करते हुए चल रहा है जिनकी समाज को ज़रूरत है। हिन्दी साहित्य का इतिहास यह प्रमाणित करता है कि आदिकाल से समकालीन तक का साहित्य समय-समय की सामाजिक ज़रूरतों का दस्तावेज़ है। यह बात सही है कि समकालीन साहित्य विमर्शों का साहित्य है। क्योंकि इस समय बहुत सारे वर्ग जो हाशिएकृत, दमित, उपेक्षित एवं शोषित थे वे अपनी हैसियत केलिए लड़ने लगे वे हैं- स्त्री, दलित, आदिवासी, वृद्ध, बाल, तीसरी लिंगी, पारिस्थिति जैसे विमर्श। ये सब स्वत्व विमर्श हैं क्योंकि उन्होंने अपने स्वत्व को पहचान लिया पर उनका निरंतर स्वत्व निषेध ही होता रहा। इसलिए यह एक पहचान है अपने को पहचानने । इसका परिणाम है स्वत्व विमर्श याने कि समकालीन साहित्य। आगे हमें देखना चाहिए कि क्या है विमर्श, उसका स्वरूप एवं परिभाषा।

1.1 विमर्श अर्थ एवं परिभाषा

विमर्श एक प्रकार का आलोचनात्मक कार्य है, जिसमें विवेक जन्य पहचान और प्रगतिगामी दृष्टि दोनों विद्यमान हैं। विमर्श अंग्रेज़ी के 'डिस्कोर्स' का समानार्थक शब्द है। आधुनिक हिन्दी शब्द कोश के अनुसार 'विमर्श का अर्थ सोच विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना, किसी विषय पर कुछ सोचना, समझना, विचार करना, गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना, विचार-विनिमय सोच-विचार, परीक्षण, तर्कना, जाँचना और परखना किसी से परामर्श या सलाह लेना।"[1] मानक हिन्दी कोश में विमर्श की परिभाषा है "सोच-विचार कर तथ्य या वास्तविकता का पता लगाना, किसी बात या विषय पर कुछ सोचना, समझना, विचार करना, गुण-दोष आदि की आलोचना या मीमांसा करना। जाँचना और परखना, किसी से परामर्श या सलाह करना।"[2]

विमर्श किसी भी विषय को लेकर हो सकता है, व्यक्ति, समाज, वर्ग, जाति, विचार तथा कोई विशिष्ट स्थिति आदि। इसका स्वरूप अत्यंत व्यापक होने के कारण समकालीनता के पूर्व भी इसकी व्यापकता देख सकता हैं। मंजु रूस्तगी ने अपनी स्त्री विमर्शः अव्धारणा एवं स्वरूप नामक पुस्तक में इसका जिक्र यों किया हैं - स्वाधीनता पूर्व और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से लेकर सन् 1960 तक के लेखन में भी विमर्श की अभिव्यक्ति

---

1. गोविन्द चातक - आधुनि शब्दकोश, पृ. 529
2. मंजु रूस्तगी - स्त्री विमर्शः अवधारणा एवं स्वरूप, पृ. 19

अवश्य मिलती है, परंतु इसमें विमर्श से ज़्यादा तत्कालीन कटु यथार्थ की तथा समस्याओं की भयावहता अधिक दृढ़ता के साथ अंकित करने का प्रयास परिलक्षित होता है। विमर्श केन्द्रित लेखन प्रायः 1960 के बाद ही नज़र आता है। शिक्षा, पश्चिमी साहचर्य और सामाजिक प्रबोधन ने लोक चेतना एवं लोकजागरण के साथ-साथ समकालीन साहित्यकारों को भी प्रभावित किया। फलस्वरूप विभिन्न विषयों, प्रश्नों तथा मसलों पर संवेदना के साथ लेखन हुआ। और उनके विमर्श मूलक विचारों की अभिव्यक्ति हुई"[1]

वास्तव में भारत में विमर्श शब्द का प्रयोग अंग्रेज़ी के 'डिस्कोर्स' शब्द के लिए किया गया है। 'विमर्श शब्द का अर्थ होता है कि व्यक्ति के बहाने सामुदायिक अस्मिता का विवेचन, विचार, समीक्षा या आलोचना।"[2] डिसकोर्स शब्द विमर्श केलिए इसलिए मानता हैकि 'युरोप में भी वहां अब तक नकारे गए, तथा पूँजीवादी व्यवस्था में शोषित वर्ग को लेकर ज़ोरों से बहस शुरू हुई थी। इस बहस के लिए वहाँ 'डिसकोर्स' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। इसी 'डिस्कोर्स' शब्द के लिए हिन्दी में विमर्श शब्द का प्रचलन हुआ।"[3]

विश्व के अनेक देशों में यह देखा जा सकता है कि उस देश के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित शोषित, गुलाम तबकों पर कभी गंभीरता से विवेचन ही नहीं हुआ है। यह वर्ग हमेशा दोयम रूप में अथवा

---

1. मंजु रूस्तगी - स्त्री विमर्शः अवदारणा एवं स्वरूप, पृ. 13
2. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे - विमर्श अवधारणा स्वरूप और प्रकार, पृ.84
3. वही - पृ. 84

तथाकथित प्रस्थापित वर्ग की दया पर ही जीता रहा। बीसवीं सदी में जब शिक्षा के दरवाज़े सभी के लिए खोल दिए गए, जब व्यक्तित्व विकास के सभी अवसर सब को उपलब्ध कराए गए तब इस वर्ग के भीतर अपने अस्तित्व और अस्मिता को लेकर अनेक प्रश्न उठने लगे। ये वर्ग अपने खोए हुए मानवाधिकारों की माँग करने लगे। परिणामतः इस वर्ग की दशा पर प्रस्थापित और उपेक्षित दोनों वर्गों में जो बहस शुरु हुई उसी को विमर्श कहा जाता है। इससे पता चलता है कि विमर्श को अस्मिता के साथ मानवाधिकारों के साथ गहरा संबन्ध है। यह केवल व्यक्तिगत रूप में अपनी पहचान नहीं अपितु अपने जैसे संपूर्ण समूह की पहचान या समूह की अस्मिता से संबन्धित है। तो आज विमर्श का संबन्ध गहरे रूप से व्यक्ति की, समूह की, अस्मिता के साथ जोड़ा गया है। ठीक इसी प्रकार विमर्श विश्व में फैले किसी भी विषय को लेकर शुरु हो सकता है। विमर्श का संबन्ध परंपरा द्वारा नकारे गए वर्ग के साथ याने कि दबे, कुचले, शोषित, श्रमिक, स्त्री-पुरुषों के साथ जुड़ गया है।

1.2 भारत में विमर्श की परंपरा

विश्व प्रसिद्ध अर्थशास्त्री तथा नोबल पुरस्कार प्राप्त अध्येता डॉ. अमर्त्य सेन ने अपनी एक पुस्तक में यह प्रामाणित किया है "विश्व के अनेक देशों की तुलना में, भारत में एक दूसरे के साथ निरंतर संवाद की लंबी परंपरा रही है। बौद्धकाल में बौद्ध संघों में सभी अध्येता एक साथ इकट्ठे

होकर किसी एक विषय पर गंभीर चर्चा करते थे। उनके इन विषयों में विविधता थी।"[1]

स्वातन्त्र्योत्तर काल में भी विमर्श की छवियाँ देख सकते हैं। राजनीतिक स्वतंत्रता के बाद डॉ. बाबा साहब अम्बेडकर द्वारा जिस संविधान का निर्माण किया गया, उसके कारण इस देश के सभी तबकों को शिक्षा की सुविधाएँ उपलब्ध होने लगीं। संविधान सभा में दीर्घकाल तक जो बहसें हुईं, वह वास्तव में इस देश के भविष्य को लेकर किया गया 'विमर्श' ही था। और इस 'विमर्श' का लक्ष्य था, यहाँ के नकारे गए श्रमिक, शोषित, दलित, आदिवासी, स्त्री वर्ग को शिक्षा हेतू अनेक सुविधाएँ प्रदान करना तथा शिक्षित होने के बाद उन्हें नौकरियों में आरक्षण देकर आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी बनाना। बहुत धीमी गति से क्यों न हो यह प्रक्रिया तब से शुरू हुई थी।

विमर्श के आरंभिक दौर में याने कि स्वाधीनतापूर्व और स्वाधीनता प्राप्ति के बाद से लेकर सन् 1960 तक के लेखन में विमर्श की अभिव्यक्ति देख सकते है, लेकिन इसमें विमर्श से ज़्यादा तत्कालीन कटु यथार्थ की ओर समस्याओं की भयावहता अधिक देख सकते हैं। इसलिए इसमें आक्रामकता रही थी, वेदना और विद्रोह के स्थायी भाव होते थे। विमर्श केन्द्रित लेखन की शुरुआत प्रायः 1960 के बाद ही नज़र आता है। आज विमर्श एक साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र नहीं हैं इसका समर्थन करते हुए चन्द्रभान सिंह यादव

---

1. डॉ. सूर्यनारायण रणसुभे - विमर्श अवधारणा, स्वरूप और प्रकार चिंतन - सृजन त्रैमासिक, पृ. 86

का कथन है कि 'आज़ादी के सत्तर वर्ष बाद भी देश का बड़ा समुदाय हाशिए पर पड़ा है। जिसमें दलित, आदिवासी, स्त्री, अल्पसंख्यक मुख्य हैं। समाज वैज्ञानिक, साहित्यकार इन पर चिंतन लेखन कर रहे हैं गंभीरता से। स्त्री, दलित, आदिवासी विमर्श साहित्यिक प्रवृत्ति मात्र नहीं है अपितु सदियों से हाशिए पर डाले गए समाज की आवाज़ है। यह श्रमशील समाज न सिर्फ सुविधा हीन अपितु आदिकाल से लेकर अधिकार से वंचित रहा।"[1] हिन्दी का समकालीन साहित्य और साहित्यकार इस प्रकार हाशिए पर पडे लोगों के प्रति संवेदनशील थे। वह अपने समय की समस्याओं और चुनौतियों के साथ संघर्ष कर सामाजिक सरोकार रखने वाले थे। साहित्य विधा में विशेषकर उपन्यास में इस सामाजिक सरोकार की प्रतिबद्धता कहीं ज़्यादा देख सकते हैं। उपन्यास का व्यापक फलक इस सरोकार की पृष्ठभूमि को तैयार करने में सक्षम साबित होता है।

1.3 समकालीन हिन्दी उपन्यास और विविध विमर्श

मानव चेतना और समाज में जो तरह-तरह के भौतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते रहे हैं और हो रहे हैं उन्हें मनुष्य-कथा के रूप में प्रस्तुत करने का श्रेष्ठतम माध्यम उपन्यास है। मनुष्य के मानसिक और सामाजिक जीवन के विविध व्यापारों को जिस ढंग से उपन्यास में प्रस्तुत किया जा रहा है वह अन्य विधाओं की तुलना में एक विशिष्ट आयाम प्रदान करता है। इसलिए शशिकला राय का कथन है कि 'उपन्यास मानव जीवन के स्वप्न की यथार्थ

---

1. चन्द्रभान सिंह यादव - साहित्य विमर्श, पृ. 26

अभिव्यक्ति है जिसमें मनुष्य की अभिलाषाओं का संघर्ष है, भविष्य का आईना है। आज का युग प्रश्नों का युह है। जीवन के नित बदलते आयामों में नित नए प्रश्न खड़े हो जाते हैं, जिनका निदान रच-रचाव, गढे-गढाए, पारंपरिक ढाँचों के उत्तरों से संभव नहीं है अर्थात् युगीन प्रश्नों से जूझते हुए उत्तरों का संधान करने के लिए उपन्यासकार बने-बनाए औपन्यासिक फार्म को तोड़ता है।"[1] उपन्यास में उभरते इन्हीं प्रश्नों को विमर्श के रूप में देखा जा सकता है। इसमें स्त्री विमर्श दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, अल्पसंख्यक विमर्श और आदिवासी विमर्श का विचार दर्ज है।

1.3.1 स्त्री-विमर्श

स्त्री विमर्श का प्रारंभ पश्चिम से है। 1792 में मेरी वूल्स्टन ने 'A Vindication of the rights of woman' शीर्षक पुस्तक प्रस्तुत करते हुए स्त्री अधिकार एवं अस्मिता केन्द्रित विचारों को प्रश्रय किया दिया फिर 1928 में वर्जीनिया वूल्फ की पुस्तक A Room for ones own प्रकाशें में आयी । इस सिलसिले की तीसरी पुस्तक है Secon Sex जो 1949 में प्रकाशित हुई । 1963 में अमेरिका में बेटी फ्राइडन की पुस्तक The Feminine mystique और बाद में केट मिल्लर की Sexual politics प्रकाशित हुई। इन सारी पुस्तकों के केन्द्र में स्त्री और उससे संबन्धित बहुआयामी सन्दर्भों की चर्चा की गई है। यहीं से यूरोप में स्त्री विमर्श बल पकड़ता है। उसका प्रभाव सहज रूप से भारतीय साहित्य में तथा हिन्दी

---

1. शशीकला राय- कथा समय सृजन और विमर्श, पृ. 90

साहित्य में पडा। क्योंकि भारत एक उपनिवेशी राष्ट्र था अब भी उसकी संस्कृति एवं नीतियों का परोक्षी प्रभाव बना होता है। इसलिए फैमिनिसम विदेशी आन्दोलन है। उससे प्रभावित होकर हिन्दी में 1960 के बाद स्त्री विमर्श की चर्चा बल पकड़ने लगी है।

स्त्री विमर्श अपनी अस्मिता, आत्मचेतना और अस्तित्वबोध के प्रति उस की सजगता का परिणाम है। इसका मूल कारण नारी के अपने स्वत्व की पहचन ही है। यह पहचान उसने शिक्षा से प्रारंभ की। इसके अलावा सुधारवादी संस्थाओं के योगदान भी उस के उद्धार के लिए प्रमुख कारण बने। परिणामतः पर्दा प्रथा, बाल-विवाह, सती प्रथा जैसी कूरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठायी गयी। राजा राममोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, गाँधी जी जैसे नेताओं की भूमिका इस संदर्भ में उल्लेखनीय है।

हिन्दी साहित्य में इसकी झलकें यद्यपि आदिकल और मध्यकल में देखी जा सकती है, फिर भी आधुनिक काल में ही उसका स्पष्ट रूप दिखायी देता है। यह दृष्टि सचमुच समकालीन संदर्भ में स्त्री विमर्श का रूप धारण कर लेती है। स्त्री विमर्श पुरुष का विरोध नहीं है बल्कि वितृसत्तातमक मानसिकता का विरोध है जो अपनी समंती वृत्तियों के चलते स्त्री को मानवीय गरीमा न देकर उसे अपनी सँपत्ति समझती है। इस प्रतिरोध की प्रवृत्ति ने समकालीन स्त्री विमर्श को आगे बढ़ाया। 'स्त्री को अपने आस्तित्व के बोध ने विमर्श को प्रेरणा दी। पुरुष की एकाधिकार शाही के वातावरण

से स्त्री को बाहर लाने का प्रयास ही स्त्री विमर्श है। स्त्री विमर्श और कुछ नहीं, अपनी अस्मिता की पहचान, स्व की चिन्ता, अस्तित्व बोध और अधिकार को जतलाने और बतलाने का विचार चिन्तन है।"[1]

चित्रा मुद्‌गल, मृदुला गर्ग, प्रभा खेतान अलका सरावगी, मृणाल पाण्डे, गीतांजलि श्री, राजी सेठ और मैत्रेयी पुष्या जैसी लेखिकाओं ने अपने उपन्यासों के माध्यम से स्त्री विमर्श को नए धरातल पर ले आने का प्रयास किया। स्त्री को केन्द्र में रखकर लिखे गये उपन्यासों में प्रमुख है - कृष्ण सोबती का 'सूरजमुखी अँदेरे के' बचपन के बलात्कार पर हिन्दी में ही नहीं अन्य भारतीय भाषाओं में पहला सशक्त उपन्यास होगा। 1972 में प्रकाशित यह उपन्यास कम उम्र की बच्चियों के बलात्कार की समस्याओं से अवगत कराता है।

ममता कालिया का उपन्यास बेघर (1971) में पति-पत्नी के शरीरिक संबन्ध को केन्द्र में रखकर लिखा गया उपन्यास है। जिसमें आधुनिक समाज में पुरुष की संस्कारबद्ध जड़ता और संदेह-वृत्ति को उभारता है। उपन्यास के माध्यम से लेखिका ने स्त्री के कुँआरेपन को लेकर पुरुष समाज में जो रुढ़ धारणाएँ हैं, वे न सिर्फ अवैज्ञानिक हैं बल्कि अमानवीय भी है यह स्थापित करने का प्रयास किया है।

उषा प्रियंवदा के उपन्यास 'पचपन खंभे लाल दीवारें (1962) एक ऐसी सुशिक्षित और आत्मनिर्भर स्त्री की मार्मिक कथा है जो पारिवारिक और

1. डॉ. अर्जुन चव्हाण - विमर्श के विविध आयाम, पृ. 18

आर्थिक कारणों से विवाह नहीं कर पाती और अतंतः अविवाहित रहने का निर्णय लेती है।

छिन्नमस्ता (1993) नामक प्रभा खेतान द्वारा लिखे गये उपन्यास में 'प्रिया' नामक एक ऐसी नारी का आख्यान है, जो निरंतर शोषित है। समाज की जर्जर मान्यताओं से भी और पुरुष की आदिम भूख से भी। इस में निरंतर शोषित 'प्रिया' अर्थ और 'सेक्स' यानी दोनों के मोर्चों पर कुचले जाने के विरुद्ध अपनी बचाव केलिए शोषक शक्तियों से चुनौती लेकर चल पड़ती है। प्रभा खेतान की 'पीली आँधी भी राजस्थान के मारवाड़ी सेठ गुरमुख दास रूँगटा की हवेली से लेकर कलकत्ता में 'रनगटा हाउस' तक संयुक्त परिवार की तीन पीढ़ियों के बसने-उजड़ने और टूटने बिखरने की विकास-कथा है। इसमें परंपरा, पूँजी और पहचान के आत्मसंघर्ष में छटपटाती स्त्री-शक्ति की अपनी मुक्ति के लिए नये मार्ग खोजने की प्रक्रिया है।

गीतांजलिश्री की माई (1993) मध्यवर्गीय परिवार के माध्यम से निरंतर बदलते संबन्धों और बढते अंतर्विरोधों की कथा प्रस्तुत की गई है। स्त्री के नैतिक संकटों, विस्फोटक स्थितियों, प्रतिरोधों दमनों और द्वंद्वों से उत्पन्न मानसिक पीडाओं का चित्रण भी इस में हुआ है।

1.3.2 दलित विमर्श

भारतीय समाज में लोकतंत्र के विकास केलिए एक बड़ी बाधा है जाति व्यवस्था । यह हिन्दु समाज की सामाजिक संरचना की ऐसी बुनियादी

विशेषता है जिसने समाज और संस्कृति को ही नहीं भारतीय राजनीति को भी प्रभावित किया। यहां व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता, स्वतंत्र पहचान आदि महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि उन्हें 'जाति' से जोडकर ही समझा जाता है। अतः दलित साहित्य में सदियों से अपमानित, प्रताडित एवं वंचित समुदाय की विशाल पीड़ा व आक्रोश देख सकते हैं।

भारतीय समाज व्यवस्था में अस्पृश्यता के नाम पर बहुत पहले से दलितों को पढ़ने-लिखने का अधिकार नहीं रहा। इसलिए शुरुआत में दलित साहित्य के रूप में ज़्यादातर वही साहित्य मिलता है जो दलितों के बारे में गैर दलितों ने लिखा था। डॉ. तुलसीराम के अनुसार 'गैर दलितों द्वारा लिखा गया दलित साहित्य किसी अभिनेता द्वारा शेर की सफलतापूर्वक आवाज़ निकालने जैसा है, जबकि दलित साहित्यकार स्वयं शेर भी है और उसकी आवाज़ भी।"[1] दलित शब्द का अर्थ और व्याप्ति पर प्रकाश डालते हुए डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का कहना है 'दलित एक संवेदन है विचार है जिसका अर्थ दबाया गया मनुष्य, किसी भी जाति, वर्ण, धर्म मन एवं भौगोलिक क्षेत्र का हो दलित है।"[2]

हिन्दी का दलित साहित्य अस्सी और नब्बे के दशक में उभरे एक साहित्यिक आन्दोलन का परिणाम है जिसमें शिक्षा संपन्न तथा अपने स्वत्व बोध की पहचान से प्रबुद्ध दलित रचनाकार अपने और अपने जैसे अनेकों

---

1. डॉ. तुलसीदास - दलित साहित्य की अवदारणा, सं. डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, पृ. 61 चिंतन की परंपरा और दलित साहित्य
2. डॉ. पुरुषोत्तम सत्यप्रेमी का लेख - सुमनलिपी माजिक बंबाई 1944, पृ. 5

के जीवनयथार्थ को अलग ढंग से जन सामान्य के समने प्रस्तुत करने का प्रयास किया। यही सचमुच अस्सी के बाद का दलित साहित्य है या दलित विमर्श। इसकी नींव पर अंबेडकरवादी विचारधारा का ठोस धरातल है।

दलित उपन्यासों में दलित जीवन की सच्चाई और स्वानुभूति का मार्मिक चित्रण देख सकते हैं। दलित जीवन की सच्चाई बेहद यथार्थवादी नज़रिए से अभिव्यक्त करने वाले कुछ उपन्यास हैं - ओमप्रकाश वाल्मीकी द्वारा लिखित जूठन। तुलसी राम द्वारा लिखे गये 'मुर्दहिया' में पूर्वी उत्तर प्रदेश के ग्रामीण अंचल में शिक्षा के लिए जूझते एक दलित की मार्मिक अभिव्यक्ति है। ये दोनों उपन्यास आत्मकथात्मक हैं।

दलित स्त्रियों को स्त्री होने के नाते दोहरे अभिशाप से गुज़रना पड़ता है। कौसल्या वैसंत्री अपने जीवन के दोहरे अभिशापों को व्यक्त करते हुए 'दोहरा अभिशाप' लिखा था। स्त्री का शोषण हर जगह चलता है इसलिए कि वह स्त्री है। ऐसा लग रहा है कि स्त्री शोषण करने के लिए सृजित हो। किसी भी जाति का क्यों न हो उसका विभिन्न ढंग से शोषण करता है। स्त्री अगर दलित भी हो तो उसका शोषण दुगुना हो जाता है। इस प्रकार के स्त्री होने के तथा दलित स्त्री होने की वजह से जिन-जिन शोषणों का सामना करना पडा है उसका जीवन्त चित्र है 'दोहरा अभिशाप'। यह दलित जीवन के एक अनदेखे पहलु का अनावरण भी है। सुशीला टाकभौरे का 'शिकजे का दर्द' भी ऐसी पीडा और दलित जीवन की विसंगतियों को अभिव्यक्त करनेवाली रचना है।

ब्राह्मणवाद के मुखौटे को उखाडने वाला उपन्यास है 'छप्पर'। जयप्रकाश कर्दम ने आज़ादी के बाद स्वतंत्रता, समानता, एवं भाईचारे के नारे को बुलन्द करनेवाले भारतीय समाज में जीनेवाले दलितों के जीवन की अस्वतंत्रता, असमानता एवं नफरत को चित्रित किया है इस उपन्यासों में। उन्होंने यह भी दिखा दिया कि स्वाधीनता का सारा सुख भोगने वाले सचमुच उच्च वर्ग ही हैं। निम्नवर्ग अब भी शोषित, पीडित, एवं उपेक्षित है जिनकी मुक्ति का कोई राह दिखाई नहीं देता। इसके अलावा मोहनदास नैमिशराय का 'मुक्ति पर्व', सूरजपाल चौहान का उपन्यास तिरस्कृत आदि उपन्यासों में भी दलितों ने अपने भोगे हुए यथार्थों को बड़ी तीव्रता से उजागर करने का प्रयास किया है। वैयक्तिक एवं सामाजिक स्तर पर जो तिरस्कार वे भोग रहे हैं उससे वे सजग हैं। अपने स्वत्व की पहचान करते हुए उसको स्थापित करने के प्रयत्न का नाम है दलित आन्दोलन याने कि दलित विमर्श। दलित रचनाकार इस दलित अस्मिता या स्वत्व को स्थापित एवं बना रखने के संघर्ष में रचना को अस्त्र बना रहे हैं।

1.3.3 पारिस्थितिक विमर्श

मनुष्य और प्रकृति के आपसी संबंधों में जो कारगर परिवर्तन आया है आज के संदर्भ में उन्हें बड़ी सतर्कता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयास समकालीन साहित्य में देख सकते हैं। आधुनिक सभ्यता के विकास में पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली का बहुत बड़ा योगदान है। मनुष्य अपनी

आवश्यकताओं से ज़्यादा शोषण प्रकृति का कर रहा है। यह प्रकृति के विनाश का कारण बन जाता है। इसलिए प्रकृति को स्वच्छ एवं सुरक्षित रखने की अनिवार्यता की पहचान का परिणाण है पारिस्थितिक विमर्श। मानव और पर्यावरण का बहुत ही गहरा संबंध है। पर्यावरण का प्रभाव प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानव पर पड़ता है। यह प्रभाव तुरंत नज़र नहीं आता। किंतु काफी समय बाद स्पष्ट रूप से सही तस्वीर सामने आती है। अर्थात् मनुष्य अपनी सुख-सुविधाओं के लिए अनेक अनर्थ कार्य करते रहते हैं यह अपने जीवन और समस्त जीव-जंतुओं केलिए भी हानिकारक है। समकालीन हिन्दी उपन्यासों में पारिस्थितिक सजगता पर दृष्टि डालने वाले बहुत जारे उपन्यास हैं। वीरेन्द्र जैन के 'डूब' और पार। डूब और पार में हमारी प्रमुख नदियों में बाँध बनाने के बाद जो त्रासदी उस प्रदेश पर वहाँ की जनता के जीवन में आ पड़ी है उसको व्यक्त करने का प्रयास है। बाँध के निर्माण के लिए नदी का तल बढ़ाने के लिए मिट्टी के बड़े-बडे टीनें खड़े किए जाते हैं। इससे वहाँ का पारिस्थितिक संतुलन जो है बिगड़ जाता है। यह भी नहीं धीरे-धीरे नदी सूख जाती है उसका आगे का प्रवाह सूख जाता है अनेक एकट ज़मीनें बंजर बन जाती हैं। इस प्रकार की त्रासदी सचमुच मनुष्य निर्मित है। इस समझ से पारिस्थितिक सजगता जाग उठती है और प्रकृति की सुरक्षा एवं स्वच्छता के बिन मनुष्य कभी सुरक्षित नहीं रह पाएगा जैसा बोध उत्पन्न होता है।

'इदन्नमम' उपन्यास में विध्यांचल के पहाड़ी प्रदेशों पर होने वाले

पारिस्थितिक शोषण का जिक्र करते हुए मैत्रेयी पुष्पा ने इस सच्चाई की ओर इशारा किया है। कमलेश्वर का उपन्यास 'अनबीता अतीत' पर्यावरण की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखा गया है। इसमें अत्यंत मासूम वन्य जीव-पक्षियों की पीड़ा तथा उनके जीवन के संकटों को उद्घाटित करते हुए बताना चाहते हैं कि प्रकृति और मनुष्य के जीवन में सन्तुलन होना अनिवार्य है इसकेलिए जीव-जन्तुओं का भी संरक्षण अनिवार्य है।

रामदरश मिश्र द्वारा लिखित 'सूखता हुआ तालाब', शैलेश मटियानी के गोधूली गफूरन नवीन जोशी द्वारा रचा गया उपन्यास 'दावानल' आदि इसी कोटि के महत्वपूर्ण उपन्यास है। कहने का मतलब यह हुआ कि समकालीन रचनाकारों ने अपनी रचनाओं के माध्यम से प्रकृति के अनुचित शोषण और इससे उत्पन्न त्रासद स्थितियों को व्यक्त करते हुए जन-मानस को सजग करने का कार्य किया है। विकास मानवराशी के आगे के प्रयाण केलिए अनिवार्य है। लेकिन यह विकास पर्यावरण या प्रकृति को नष्ट करते हुए नहीं होना चाहिए।

1.3.4 वृद्ध विमर्श

वृद्ध विमर्श का अर्थ है वृद्धावस्था की समस्याओं पर चिन्तन। अर्थात् वृद्धावस्था की समस्याओं को समझकर उनके लिए उचित समाधान ढूँढना। वृद्धावस्था मानव-विकास का वह चरम पड़ाव है जहाँ व्यक्ति के शारीरिक-सामर्थ्य का तो क्षरण होता है पर बौद्धिक रूप से परिपक्वता आ जती है।

आज के युग में भारतीय लोकतंत्र में वृद्धों का वर्चस्व बना हुआ है। किंतु पारिवारिक व्यवस्था में वे विडंबनाग्रस्त हैं। उन्हें हाशिए पर ढकेल दिया गया है। समाज की इस दुःस्थितियों का चित्रण साहित्याकरों ने बड़ी संवेदनशीलता पूर्वक किया है। हिन्दी साहित्य में ऐसी कई उपन्यास हैं जिनमें वृद्धों के प्रति संवेदना व्यक्त की गई है।

वर्तमान संदर्भ में वृद्धों की समस्या को केन्द्र में रखकर लिखे गए उपन्यासों में 'चित्रा मुद्‌गल' द्वारा लिखित गिलिगडू (2000) महत्वपूर्ण है। इसमें बुढ़ापे के दर्द, उपेक्षा, अत्याचार आदि पर प्रकाश डाला गया है। निर्मल वर्मा का अंतिम अरण्य, कृष्मा सोबती का 'समय सरगम', श्रीलाल शुक्ल का 'विश्राम पूर का संत' आदि उपन्यासों में वरिष्ठ नागरिकों की संवेदनाओं को केन्द्र में रखा गया है।

1.3.5 किसान विमर्श

किसान भारतीय समाज का मेरुदंड है। भारतीय चेतना का मूर्त-रूप है और औपनिवेशिक व्यवस्था का सर्वाधिक शोषित और पीडित समुदाय भी। किसान पूरे देश का अन्नदाता है। लेकिन आज के बाज़ारवादी दौर में उसको हाशिए पर छोडा गया है। आज़ादी के पहले के शोषकों को किसान समझ सकता था। लेकिन आज वे अपनी चलाकी से शोषण कर रहे हैं। आज़ादी के इतने साल बाद भी किसानों को न्याय नहीं मिला। कभी प्राकृतिक आपदाओं से कभी सरकारी नीतियों से वे परेशान हो रहे हैं।

आज किसानों के समक्ष अशिक्षा, गरीबी भुखमरी एवं आत्महत्या, जैसी अनेक समस्याएँ हैं उठ खडी हैं। साहित्य के क्षेत्र में स्वतंत्रता के बाद किसान जीवन की समस्याओं को लेकर लिखे गए उपन्यासों का अभाव है। लेकिन समकालीन संदर्भ में कुछ रचनाकारों ने नव औपनिवेशिक यंत्रणाओं से पीडित किसानों की समस्याओं को लेकर कुछ उपन्यास लिखे हैं उनमें 'शिवमूर्ति' के उपन्यास 'आखिरी छलांग, संजीव का फांस, तथा पंकज सुधीर का उपन्यास 'अकाल में उत्सव' उल्लेखनीय है । जगदीश चन्द्र का 'धरती धन न अपना' जो है सामाजिक व्यवस्था से संघर्ष करने वाले कृषक मज़दूर आदि की समस्याओं को सामने रखनेवाले उपन्यास है।

बल्लचनमा नागार्जुन द्वारा लिखित उपन्यास है। जिसमें ग्रामीण जीवन जीनेवाले ईमानदारऔर परिश्रमि किसान के जीवन की गाथा है। शिवप्रसाद सिंह द्वारा लिखत 'अलग अलग वैतरणी पूर्वी उत्तर प्रदेश के वाराणासी क्षेत्र के ग्रामीण जीवन पर आधारित है। जमींदारी प्रथा से लेकर स्वातंत्र्योंत्तर भारत की पूँजीवादी व्यवस्था तक के लगभग अर्ध-सदी का प्रामाणिक दस्तावेज़ है।

1.3.6 आदिवासी विमर्श

स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, पारिस्थितिक विमर्श, वृद्ध विमर्श के समान समकालीन हिन्दी साहित्य का एक सशक्त विमर्श है आदिवासी विमर्श। यह भी उसकी अपनी पहचान का ही परिणाम है।

आदिवासी अपनी समाज परंपरा एवं संस्कृति को नए सिरे से परखने लगे और पाया कि वह हाशिएकृत है। उसने यह भी समझ लिया कि कहीं भी उसकी स्वीकृति नहीं होती सब कहीं तिरस्कृत है, शोषित है, पीडित है। यह समझ उसे अपने बारे में खुद कहने और खुद लड़ने केलिए विवश कर डालता है। अपने जीवन की समस्याओं पर चिंतन करते हुए अन्य लोगों के समान हमें भी जीने का अधिकार है यह समझकर वह लड़ने लगता है। उस समझ और संघर्ष का परिणाम है आदिवासी विमर्श।

1.3.6.1 आदिवासी कौन

आदिवासी देश के मूलनिवासी हैं। वे अपनी विशिष्ट समाज व्यवस्था को कायम रखने वाले समूह हैं जिनमें अपनी स्वतंत्र संस्कृति है, दर्शन है, इतिहास है, विरासत है और इन सबको अभिव्यक्त करने केलिए उनकी अपनी मातृभाषाएँ हैं।

मूलनिवासी होने के बावजूद इन के अस्तित्व पर प्रश्न चिह्न लगाते रहे हैं कि ये कौन हैं? आदिवासियों की अस्मिता का प्रश्न उनके नाम से सन्दिग्ध हो जाता है। भारत की शासन व्यवस्था ने इनकी उपेक्षा की। संविधान में जन-जाति नाम देकर मुख्यधारा से अलग कर मूलभूत सुविधाओं से भी इन्हें वंचित कर दिया। आरक्षण की सुविधा तो है इन को पर जिस समाज को वाँछित शिक्षा न हो वहाँ आरक्षण से क्या फायदा? यु.एन.ओ.में भारत सरकार ने आदिवासियों के किसी भी तरह के अस्तित्व को नकार

दिया है। इसके बावजूद यु.एन. ओ में आदिवासियों की परिभाषा इस प्रकार है "आदिवासी राष्ट्र का पारस्परिक संबंध और व्यवहार करने के बारे में पूर्वानुभाव पर आधारित निश्चित नियमों का पालन करने वाले पारिवारिक समूह आदिवासी जाति है।"[1]

मानव वैज्ञानिक गिलिन के अनुसार 'किसी विशिष्ट भू-प्रदेश पर रहनेवाले, समान बोली, भाषा बोलनेवाले तथा समान संस्कृति का जीवन जीनेवाले स्थानीय जत्था को आदिवासी समाज कहते है।"[2]

मानव विज्ञान शास्त्र के शब्दकोश में ई.बी टायलॅर ने आदिवासियों पर खोज करते हुए कहा है कि 'किसी सामाजिक भूप्रदेश में रहनेवाले तथा एक बोली भाषा सांस्कृतिक बेमेल और एकात्मिक सामाजिक संगठन वाले समाज कबीला याने आदिवासी जनजाति है। उन्हें समान बुजुर्ग, समान देवता और आमतौर पर समान नेतृत्व होता है। इनके गिरोह के परिवार, आर्थिक, समाजिक, धार्मिक तथा पारिवारिक खून के धागे से संबंध संलग्न होते है।"[3]

श्रीमान गिलीन तथा टायलर जैसे मानवशास्त्र के वैज्ञानिकों की आदिवासी परिभाषा में काफी समानताएँ हैं। भारतीय मानववंश शास्त्रकार डॉ. डी. एन. मंजुदार ने आदिवासियों की उत्पत्ति की खोज करते-करते आदिवासी की एक परिभाषा यों दी है, 'समान नामधारी एक ही भूप्रदेश पर निवास करनेवाले शादी-ब्याह, धंधा के संदर्भ में समान निषेध नियमों का

1. जुगुल किशोर चौधरी - युद्ध आम आदमी, पृ. 82
2. डॉ. बापूराव देसाई मानव वैज्ञानिक गिलिन, आदिवासी साहित्य विधा शास्त्र और इतिहा, पृ. 20
3. डॉ. बापूराम देसाई - मानव वैज्ञानिक गिलिन, आदिवासी साहित्य विधा शास्त्र और इतिहास, पृ. 20

पालन करनेवाले एक ही बोली भाषा बोलनेवाले, परस्पर जिम्मेदरियाँ निर्मित करने की दृष्टि से एक अनुशासन बद्ध व्यवस्था प्रणाली स्वीकृत करनेवाले परिवार या परिवारों के कबीलों का इकट्ठापन याने आदिवासी समाज।"[1] दूसरे समाजशास्त्री विद्वान विलियम 'पी स्कॉट के अनुसार 'समान भाषा और संस्कृति वाला ऐसा समूह जिनका अपना विशिष्ट भू-प्रदेश व्याप्त हो और जो अशिक्षित और अपनी परंपरा से जुडे हुए हो उन्हें आदिवासी कहना चाहिए।"[2]

निष्कर्ष रूप में कहे तो आदिवासी अपनी एक विशिष्ट भाषा, संस्कृति, सामाजिक व आर्थिक व्यवस्था और परंपरा, प्रथा, स्वतंत्रता, परिश्रमता और साहसिकता को लेकर जीवन जीनेवाले विशिष्ट समूह हैं। लेकिन आज भी लोग मानते है कि आदिवासी जातियाँ जंगली है, असभ्य है अशिक्षित है। जंगली कंदमूल तथा पशुमांस के भक्षक हैं। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि प्राकृतिक औषधि गुण, विज्ञान शास्त्र, सृजन कला आदि में जो क्षमता उनमें है वह किसी संस्कृति सुशिक्षित सभ्य जातियों में देखना मुश्किल है। क्योंकि वह निःस्वार्थ प्रकृति प्रेमी, तथा अपना सर्वस्व प्रकृति और प्राकृतिक संतुलन के अनुरूप बदलाकर जीनेवाले हैं।

आज विकास के नाम पर हो रहे व्यवहार से उनकी पूरी संस्कृति, समाज, साहित्य और भाषा खतरे में है। शिक्षा के प्रचार-प्रसर के कारण अपने अस्तित्व और अस्मिता के बारे में सोचने वाले ये लोग आज अपनी

---

1. डॉ. शैलजा देवगांवकर - आदिवासी विश्व, पृ. 02
2. डॉ. शेख शहेनाज बेगम अहमद, आदिवासी साहित्य स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ. 12

पहचन को कायम रखने की कोशिश कर रहे हं। अपने स्वत्व बोध और आत्मपहचन के परिणाम स्वरूप समाज, संस्कृति साहित्य जैसे सभी क्षेत्रों में अपनी हैसियत क्या है? आगे कैसे बढ़ना है इन सारे प्रश्नों का पहला पडाव है उनके 'नाम' की सार्थकत। उनकी आदिम पहचान उनके नाम से जुडी हुई हैं। इसलिए डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार किसी जीवित और विकासमान कौम को परिभाषा के दायरे में बाँधना या बाँधने की कोशिश करने की बजाय ज़रूरी है इसके समानार्थी शब्दों और उनके प्रचलित अर्थों को सामने रखना।

संविधान में अनुसूचित जनजाति के नाम से आदिवासियों को संबोधित किया गया है। अनुच्छेद 366(25) में अनुसूचित जनजाति की व्यवस्था की गयी है। 'भारत देश में आदिवासी जनजातियों में प्रमुख रूप में ये हैं- नट, करनट, गोंड, भील, उराव, कातकारी, कोल, बारली, संथाल, हो, बौगा, चेंचू, बंजारा, मिझो, नागा, गुर्जर, खांसीकोली, दोबी, जुआंग, लिंबू, अबोर, मिरी, मिशमी, मीकिर, कवारी, गारी, कुकी, लुशाई, चकमा, मूमिज, बिरहोर, खोंड, सवरा, कोकर, कमार, मीणा, कटकरी कोंडा, रेड्डी, राजगोंड, कोया, कोलाम, कुरूंबा, टोडा, काडर, मलायन, मुशुवन, कनिक्कर, सहरिया, गरासिया, पावरा, रावताला, राठ्वा, पाडवी, गवित, बलवी, माचवी, मुसहर आदि।"[1]

ऐसे अनेक नामों में विभाजित होने पर भी उन्हें एकता में लाने का प्रयास उनके 'नाम' की सार्थकता में है।

---

1. जुगुल किशोर चौधरी - आदिवासी विमर्शः अर्थ और अवधारणा लेख से, युद्धरत आमआदमी, पृ. 81

1.3.6.1.1 जनजाति

भारत के आदिवासियों को अंग्रेजी में ट्राइब कहते है । उसका हिन्दी रूपांतरण है जनजाति। भारत के संविधान ने बाद में इसको ही स्वीकार किया। कहा जता है कि 'ट्राइब' शब्द आदिवासियों को उपनिवेशी शक्तियों द्वारा हीन दृष्टि से देखे जाने का द्योतक है। इसका हिन्दी रूपांतरण 'जनजाति' भी इस सीमा से मुक्त नहीं है। जनजाति में लगा हुआ 'जाति' जाति-व्यवस्था की ओर संकेत है, जबकि आदिवासियों के बीच जाति-व्यवस्था नहीं है। उनके बीच अलग-अलग कबीलों से विकसित विभिन्न समुदाय है लेकिन इनमें जाति व्यवस्था नहीं है।

1.3.6.1.2 देशज

अंग्रेज़ी के इंडीजिनस और एबोरिजनल शब्दों को भी लगभग समान अर्थ में प्रयोग किया जाता है। दोनों शब्द उन व्यक्ति समूहों से परिचित कराते हैं जो किसी क्षेत्र विशेष के सबसे पुराने बाशिंदे है, देशज है, मूल निवासी है। देशज शब्द को लेकर 'मार्टिन कोबो' ने एक परिभाषा दी है जिसे संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी स्वीकार किया है। कोबो का मानना है, 'देशज' लोग समुदाय व राष्ट्र वे हैं, जिनकी अपनी सीमाओं के अतिक्रमण व उपनिवेशीकरण से पहले वहाँ विकसित समाजों से ऐतिहासिक निरंतरता रही है और वे इन सीमाओं में या इनके हिस्सों में पनप रहे समाजों के दूसरे तबकों से अपने-आप को अलग मानते हैं। वर्तमान में वे समाज का गैरप्रभावी तबका बनाते

हैं और अपने खुद के सांस्कृतिक ढाँचों, सामाजिक संस्थाओं और कानूनी तंत्रों के अनुरूप अपनी पैतृक सीमाओं और जातीय पहचान, जिसके आधार पर वे लोगों के रूप में अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं, उसको सुरक्षित करने, विकसित करने और भावी पीढियों को सौंपने के लिए दृढ़-संकल्प हैं।"[1]

1.3.6.1.3 आदिवासी

आदिवासी शब्द भारतीय भूमी पर निवास कर रहे देश के मूल निवासियों या आदि निवासियों को वंशजों के रूप में मान्य तमाम लोगों, समुदायों के लिए इस्तेमाल होनेवाले एक व्यापक शब्द है। 'आदिवासी' शब्द में 'इंडिजिनस' या 'देशज' का भाव शामिल है और एबोरिजनल' या 'मूलनिवासी' का भाव भी।

जनजाति शब्द भारत के आदिवासियों के लिए इस्तेमाल करनेवाले एक संवैधानिक शब्द है। भारत सरकार किसी भी समूह को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने केलिए इन आधारों का सहारा लेती है - आदिम लक्षण, विशिष्ट संस्कृति, भौगोलिक पृथक्करण, समाज के एक बडे भाग से संपर्क में संकोच और विछड़ापन। जाहिर है 'जनजाति' शब्द आदिवासी समाज की किसी विशेषता को प्रकट नहीं करता और किसी समुदाय को अनुसूचित जनजाति की श्रेणी में शामिल करने के आधार भी सीमाओं से मुक्त नहीं है।

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 17

इसके अलावा आदिवासियों को 'जंगली' था 'वनवासी' दक्षिणपंथी लोग कहते हैं। उनको असभ्य और बर्बर साबित करने केलिए प्रिमिटिव (आगिम) नेटिव (मूलनिवासी) और बैंड (आदि समूह, कबीला) जैसे शब्दों का भी प्रयोग करते आए हैं। ये सब एक स्थान विशेष पर उपस्थित जन समूह का बोध कराते हैं। फिर बी 'आदिवासी' शब्द में जंगलों में रहनेवाले तथा विशेष संस्कृति को लेते हुए रहने वाले का समग्र बोध निहित है। नैव (भोला-बाला) गिरिजन, 'लंगोटिया' आदि शब्द भी प्रचलित है लेकिन आदिवासियों को संपूर्णता में अभिव्यक्त करने की क्षमता उनमें नहीं। वे सब उनकी किसी न किसी विशेषताओं पर संकेत कर देने वाले हैं। इसलिए इन शब्दों में आदिवासी शब्द के विकल्प के रूप में प्रयुक्त होने की क्षमता नहीं है। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता जी का कथन महत्वपूर्ण हैं कि - आदिवासी की पहचान और नाम छीनकर उसे "वनवासी' घोषित किया जा रहा है ताकि वह यह बात भूल जाए कि वह इस देश का मूल निवासी यानि आदिवासी है। वह भूल जाए अपनी संस्कृति, अपनी भाषा, अपना मूल धर्म है।"[1] अतः आदिवासी नाम उन्हें ज़्यादा आत्मीय, आत्मपहचान का बोधक लगता है।

संक्षेप में आदिवासी वे हैं जो जंगल को अपना घर बनाते हैं, खेती करके तथा जंगल से मिलने वाले खाध्य पदार्थों से जीवन बिताते हैं। प्रकृति की सुरक्षा में सतर्क तथा अपनी अलग संस्कृति एवं भाषा को बनाए रखते हुए जंगलों में रहना ही पसन्द करते हैं।

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी कौन, पृ. 51

1.4 आदिवासी अस्मिता

अस्मिता का प्रश्न आज महत्वपूर्ण प्रश्नों में से एक है। भूमंडलीकरण के इस दौर में दुनिया के ताकतवर देश सारी दुनिया को अपने अधीन में लाने के प्रयत्न में है। ऐसे संदर्भ में अपनी अस्मिता की पहचान एवं उसका संरक्षण महत्वपूर्म मुद्धा बन गया है।

'अस्मिता' शब्द संस्कृत के 'अस्मि' शब्द से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है 'मैं हूँ', मेरी कुछ आवश्यकताएँ हैं, मेरी भी स्वयं की क्षमता है एवं मुझे भी चुनाव का अधिकार है।' वह व्यक्ति को उसके परिवेश के परिप्रेक्ष्य में अस्तित्व प्रदान करती है। कहने का मतलब यह हुआ कि अस्मिता सत्ता और शक्ति के ध्रूवों के बीच अपनी हिस्सेदारी की वकालत का सिद्धांत या मंच है। यह किसी व्यक्ति के व्यवहार और उसकी वैयक्तिक विशेषताओं का किसी सामाजिक समुदाय की विशिष्टता के संदर्भ में किया गया संकेतन है। इस तरह व्यक्ति की अस्मिता किसी न किसी रूप में उसके किसी समाज विशेष से संपृक्त होने पर ही परिभाषित होती है। दूसरी ओर व्यक्ति की अस्मिता के संदर्भ में उसके आत्मानुभव का ही महत्व है।

आदिवासियों की अस्मिता उनके नाम की परिभाषा से गहरा संबंध रखती है। वह अपने सामाजिक जीवन के आधारभूत तत्व जल, जंगल और ज़मीन से बी जुडी हुई है। उनकी पहचान को पुष्ट करनेवाली भाषा, संस्कृति, जीवन शैली और उसकी विरासत की रक्षा किए बिना उसकी अस्मिता की

---

1. डॉ. सुनील कुमार द्विवेदी - अस्मिता बोध और आदिवासी विमर्श आज के प्रश्न, पृ 30

रक्षा नहीं हो सकती। इसलिए आदिवासी अस्मिता और आस्तित्व को कायम रखने की आवश्यकत पर बल देते हुए 'नेहरू' जी ने कहा 'अपनी संस्कृति को उन पर थोपा न जाने की नीति को अपनाना चाहिए। हम आज तक उन्हें सिखाने की ज़रूरत ही महसूस करते रहे हैं, उनकी जनतांत्रितक और समता मूलक व्यवस्था से हमने कभी कुछ सीखने की कोशिश ही नहीं की।"[1]

आज के संदर्भ में आदिवासी वर्तमान सामाजिक व्यवस्था के प्रति इसलिए विरोध करते हैं कि इसके अंतर्गत अपने अस्तित्व और उसकी पहचान के लिए अनिवार्य जीवनदायी शक्तियों के तीनों स्रोत जल, जंगल और ज़मीन उनसे छीन रहे हैं अथवा नष्ट किए जा रहे है। इसलिए आज भारत में हर कहीं आदिवासियों की अस्मिता संकट में है। इतिहास पर दृष्टि डालें तो पता चलता है कि सत्ता शासन के केन्द्र चाहे विदेशी हो या फिर देशी, आदिवासियों के प्रति सबका दृष्टिकोण उपनिवेशवादितापूर्ण रहता है। याने कि शासन वर्ग हमेशा इनकी उपेक्षा करते हैं।

यदि जंगल और ज़मीन न हो तो आदिवासी का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। आज सर्वत्र जंगलों से इन लोगों को भगाने की कोशिश चल रही है। अपने ही देशवासियों द्वारा निरंतर शोषण और दुर्व्यवहार चल रहे हैं। ऩिरंतर अपमान सहने के कारण उनके मन में शोषण के खिलाफ विद्रोह की भावना उठने लगी है। आदिवासियों का वह विद्रोह विभिन्न स्थानों पर अलग-अलग समय पर हुआ है। अलग-अलग क्षेत्रों में आदिवासियों के इन विद्रोहों

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी अस्मिता का संकट, पृ. 50

को नेतृत्व देनेवाले नेता भी भिन्न रहे हैं। लेकिन ये विद्रोह आदिवासी कौन है? उसकी अस्मिता क्या है? इतिहास में उसका स्थान कहाँ है? आदि प्रश्नों से रूपायित हैं।

आज़ादी के पहले सूदखोरों, ज़मींदारों एवं व्यापारियों की जमात ने इन आदिवासियों का खूब शोषण किया था। इनके पास अपनी भूमि और जंगल हैं, यही उनकी मुख्य संपत्ति है। अँग्रेज़ों ने अपने राजस्व नीति में स्थायी बन्दोबस्त के लिए ज़मीन से जुडे तमाम अधिकार ज़मींदारों के हाथ में दे दिया। आदिवासी जो समूहिक रूप से पूरे गाँव एवं जंगल के मालिक थे उन्हें उस ज़मीन से बेदखल कर दिया गया। बाद में आज देखे तो इन्हें खेतिहर मज़दूर के रूप में सौप दिया गया। आदिवासियों के विस्थापन ने उनकी अस्मिता को भी खत्म कर दिया। अब आदिवासी अल्पसंख्यक और विनष्ट होने की स्थिति में है।

1.5 आदिवासी दर्शन

आदिवासी दर्शन ही वह तत्व है, जो आदिवासी समाज और साहित्य को शेष समाज और साहित्य से अलग करता है। डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार "आदिवासी दर्शन सहअस्तित्व, समता, सामूहिकता, सहजीविता, सहभागिता और सामंजस्य को अपना आधार मानते हुए रचाव और बचाव पर यकीन करता है इसलिए इसमें स्वानुभूति, और सहानुभूति के स्थान पर सामूहिक अनुभूति का प्रबल स्वरसंगीत सुना जा सकता है।"[1]

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 108

आदिवासी साहित्य के लिए अनिवार्य आदिवासी दर्शन का पहला तत्व है उसका प्रकृति के ताल-लय और संगीत का अनुगामी होना। इसमें प्रकृति और प्रेम के आत्मीय संबंध और उसकी गरिमा का सम्मान करना है। प्रकृति और पुरखों के प्रति आभार का भाव निहित है। आदिवासी दर्शन परलोक के बजाय समूचे जीवन-जगत् को महत्वपूर्ण मानता है। मनुष्य की श्रेष्ठता के दंभी दावे को खारिज करता है। आदिवासी विश्वदृष्टि के अनुसार दुनिया का हर प्राणि और उसका जीवन बराबर महत्वपूर्ण है। इसलिए उन सबको बचाया जाना ज़रूरी है, साथ ही नदी, नाले पहाड़, जंगल आदि का भी बचाया जाना ज़रूरी है। आदिवासी दर्शन पूरी दुनिया में फैल रही बाज़ारवादी लालसा और उससे उपजी धनलोलुपता और हिंसा का नकार करता है।

आदिवासी दर्शन की एक और खास बात है जीवन के प्रति आनंदमयी अदम्य जीजीविषा। वर्तमान समय में निराशा और कुंठा का माहौल सब कहीं है। इस संदर्भ में आदिवासी दर्शन जीवन को आनंदमय नज़रिए से देखने और जीने का वकालत करता है। सांस्कृतिक वैविध्य के साथ सहजता और सरलता का अनूठा मेल जो है वह आदिवासी जीवन को आनंदमयी बनाया रखता है। वहाँ न पैसे की लालच है न मुनाफे कमाने की अंधी दौड़। बल्कि अपने सुखमय जीवन केलिए सृष्टि और समष्टि के प्रति कृतज्ञता का भाव है।

इसमें धरती को संसाधन की बजाय माँ मानकर उसके बचाव और रचाव केलिए खुद को उसका संरक्षक मानता है। रंग, नस्ल, लिंग धर्म आदि के प्रति विशेष आग्रह भी यहाँ नहीं देख सकते। याने की यह दर्शन हर तरह की गैर बराबरी के खिलाफ का है, समत्व एवं समभावना का है।

1.6 समकालीन संदर्भ में विविध मुखी समस्याएं

आदिवासियों की समस्याएँ विविध मुखी है। अपने जीवन परिवेशों में रहकर पारस्परिक पद्धति से जीवनयापन करते हुए जो कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई हैं, वे एक प्रकार की हैं। दूसरे प्रकार की समस्याएँ वे हैं, जो संपूर्ण भारतीय जीवन में स्थायी एवं प्रगतिवादी दृष्टिकोण से उत्पन्न हुई है। जिसने विकास के अनुरूप आदिवासी-जीवन में बदलाव उत्पन्न किया है।

आदिवासियों की समस्याओं में सर्वप्रथम ध्यान देने की बात है अर्थ की समस्या। सामाजिक व्यवस्था का संपूर्ण आधार अर्थव्यवस्था होने के कारण यही समस्या जनजातियों में महत्वपूर्ण है। अर्थ व्यवस्था पर आधारित कुछ समस्याओं के विश्लेषण से ही यह पता चल सकता है।

1.6.1 वन पर आधारित जीविकोपार्जन की समस्या

आदिवासियों केलिए अर्थ का प्रमुख स्रोत वन ही है। आज भी लगभग 50 प्रतिशत जनजाति वनों या वनों से सम्बन्धित वस्तुओं पर निर्भर है। आदिवासी समाज की आजीविका जल, जंगल और ज़मीन पर आधारित

है। ब्रिटिश शासन के समय अंग्रेजों ने जंगल को व्यापारिक सामग्री घोषित कर दिया। जब भारत स्वतंत्र हुआ और अपनी सरकार बनी तो हमारी सरकार ने जंगल का व्यापार तो जारी रखा और जंगल में आदिवासियों का प्रवेश भी वर्जित कर दिया। आदिवासी अपनी आजीविका के लिए बहुत हद तक जंगल पर निर्भर करते हैं। लेकिन आज स्थिति यह है कि जंगल काट लिए गए हैं। और यह कटाई के कारण अनेक हैं। जैसे व्यक्तिगत हितों के कारण, उद्योग या आवास निर्माण के कारण या फिर बाँध आदि सार्वजनिक हितों की पूर्ति के कारण कटाई होती रहती है। इसलिए वनों का क्षेत्र कम होता जा रहा है। लेकिन आदिवासियों संख्या में वृद्धि होती जा रही है। वन की सारी चीजें इनकी आजीविका के प्रमुख साधन है परंतु वन संरक्षण अधिनियम के कारण इन साधनों से वे वंचित रह गए हैं। जल, जंगल, ज़मीन जैसे जीवन के आधार तत्वों से वे कोसों दूर हैं।

1.6.2 कृषि पर आधारित अर्थ व्यवस्था की समस्या

कृषि आदिवासियों के जीवन-यापन का दूसरा महत्वपूर्ण साधन है। वनों से मिलने वाली प्राकृतिक संपत्तियों पर मात्र जीवन बिताना वर्तमान संदर्भ में आदिवासियों के लिए मुश्किल की बात है। यह जानकर वे खेती-बाडी की ओर मुड गए। पर जंगलों में खेती करने की अनुमति पहले थी पर अब सरकार पारिस्थितिक सुरक्षा का मुद्धा उठाकर वे उन्हें खेती-बाडी से मना करते है और जंगलों में रहने की अनुमति नहीं देते। इसलिए अब

आदिवासियों के सामने जीविकोपार्जन का समस्या सबसे बड़ी समस्या हो गयी है। इसलिए गरीबी के कारण ये लोग अपने पास जो मिट्टी बची हुई है उसको भी बेच डालने केलिए विवश बन जाते हैं या किसी ज़मीन्दार के पास गिरवी रखने केलिए। फिर साहूकार या जमीन्दार धोखे से भूमि के मालिक बन जाते हैं।

1.6.3 श्रम की समस्या

आदिवासियों की जीविका का तीसरा प्रमुख साधन श्रम है। भारतीय संविधान के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को समान दर्जा समान अवसर प्रदान करने का प्रावधान है। परंतु कुछ ऐसे कारण हैं जिससे आदिवासी को सरकारी नौकरी में उच्च दर्जा प्राप्त नहीं हो पाता। उन्हें हमेशा निम्न स्तर की नौकरी ही प्राप्त हो जाती है। इस के लिए भी वे जंगल छोड़कर बाहर जाना नहीं चाहते। अगर जाने भी तो उन्हें उचित वेतन भी नहीं देते तथा विभिन्न प्रकार से उनका शोषण भी किया जाता है। इसलिए आदिवासी अपने जीवन-यापन केलिए धनी व्यक्तियों, ज़मीन्दारों सरकारी अधिकारियों आदि के घर में घरेलू काम करते हैं या फिर मिलों, कारखानों आदि में श्रमिक के रूप में या कृषक मज़दूर के रूप में काम करते हैं। इसलिए जीवन भर गुलाम बन कर रहने की स्थिति में वे पहूँच जाते हैं। आर्थिक, शारीरिक और श्रम के स्तर पर निरंतर शोषण के शिकार भी वे बन जाते हैं।

1.6.4 मूलभूत आवश्यकताओं की अभाव

सरकार ने आदिवासियों के लिए बहुत सारी सुविधाएँ प्रदान की है। वे अगर कोई अपना व्यवसाय या उद्योग चलाना चाहते हैं तो उन्हें बैंक से ऋण भी मिल सकता है। सचमुच वे अपनी मूलभूत आवस्यकताओं की पूर्ति वन से ही पूरा करते आ रहे हैं। लेकिन अब उनकी भूमि पर विभिन्न प्रकार के उद्योगों का कार्यक्रम हो रहा है। छल द्वारा उनकी जमीनें छीन लेती जा रही हैं। इस षड्यंत्र के कारण जंगल या कृषि पर आधारित अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं हो पा रही है।

1.6.5 ऋणग्रस्तता की समस्या

आदिवासियों में ऋणग्रस्तता की अधिकत देख सकते हैं। मूलभूत आवश्यकाताओं की पूर्ती के लिए आदिवासी छोटे-बडे कार्य कर लेते हैं पर अज्ञानता के कारण अपनी ज़मीन में खेती-बाड़ी करने केलिए वे ज़मींदारों से ऋण लेते है। उस केलिए वे अपनी जमीन, पशु या अन्य कोई चीज़ गिरवी रखते हैं। पर ठीक समय पर ऋण चुका न कर जाने के कारण उनी अपनी सारी संपत्ति नष्ट हो जाती है फिर भी ऋण बनी रहती है तो बेटे बेटी को नौकर के रूप में रख देते हैं। इस प्रकार पीढि-दर पीढि तक ऋण बढती जाती है। यह सचमुच शोषण है। अज्ञान का लभ उठाते हुए किया जानेवाला शोषण। इससे कभी आदिवासी मुक्त नहीं हो पाता। वे आजीवन ऋणी रह जाते हैं।

1.6.6 बेगारी की समस्या

अज्ञता, भोला-भालेपन, डर पोक स्वभाव के कारण ज़मींदारों और अन्य धनिक लोगों ने आदिवासी समुदाय को अपने घरों में बेगार करने को मज़बूर कर दिया है। आदिवासियों के लिए योजनाओं और नीतियों का निर्माण करनेवाले प्रायः आदिवासियों की आर्थिक परिस्थितियों से अनभिज्ञ होने के कारण आज बी यह बेगारी व्यवस्था चल रही है।

1.6.7 विस्थापन

विस्थापन का अर्थ है अपने घर की ज़मीन से उजाड़ दिया जाना। घर का अर्थ सिर्फ मिट्टी -गारे की दीवारें नहीं होता। घर का अर्थ होता है सुरक्षा का वह एहसास जो हमें जानवर से इन्सान बनाता है। घर का अर्थ होता है अपने पूर्वजों की स्मृतियों के साथ जिनके स्नेह की छाया में जीवन व्यतीत करने का सुख।

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में राष्ट्रहित और राष्ट्र के विकास के नाम पर आदिवासियों की ज़मीन का सार्वजनिक प्रतिष्ठानों, खदानों, बडे बाँधों आदि केलिए अधिग्रण हुआ। इससे आदिवासियों को एक बिलकुल नया संकट पैदा हुआ वह है विस्थापन की समस्या। विस्थापन से जीवन के आधार तत्व जल, जंगल और ज़मीन से विच्छिन्न होकर जीवन जीने केलिए विवश पड़े लोगों को अन्य अनेक समस्याओं का भी सामना करना पडा। उनके जीवन का अस्तित्व ही खतरे में पड गया।

कोयला-खदानों के बहाने, औद्योगिक इकाइयों लगवाने हेतु या जंगल संरक्षण हेतु आदिवासी बस्तियों को उजाडकर राष्ट्रीय उद्यान बनाये गये। बहुत बडी संख्यामें आदिवासी बेघर हो गए।

1.6.8 भाषा की समस्या

आदिवासी समाज के विकास में सबसे बड़ी समस्या भाषा की है। भाषा ही मनुष्य की भावनाओं और विचारों की वाहिका होती है। मनुष्य अपनी भावनाओं को दो प्रकार से व्यक्त किया जाता है बोलकर और लिखकर। किसी भी भाषा की सर्वोत्कृष्ट कृति साहित्य ही है। आदिवासी साहित्य का अमूल्य भण्डार उन के लोकगीतों में है, जिनमें संघर्ष गाथा, इतिहास विचार, भावना आदि सुरक्षित हैं। आदिवासी भाषा की अपनी कोई लिपी नहीं है इसलिए बहुत सारी भाषाएँ विनाश के कगार पडी खडी हैं। मिशनरियों के आगमन से इनकी भाषा में विकास हुआ है। फिर भी आज के संदर्भ में शिक्षा, साहित्य और सामाजिक विकास के बावजूद भाषा का व्यवहार बिलकुल सीमित है। इसके अलावा मुख्यधारा समाज की उपेक्षा के कारण अपनी भाषा का प्रयोग भी वह कम करके दूसरी भाषाओं का प्रयोग करने में विवश हो जाते हैं।

उपर्युक्त समस्याओं के अलावा ओर भी बहुत सारी समस्याएँ हैं जो आदिवासियों के जीवन को कुंठित करती हैं, जैसे अंधविश्वास, मदिरापन, गरीबी, बाहर के लोगों के हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ आदि। इन सारी

समस्याओं के सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि आदिवासियों के सुधार के लिए समय-समय पर उनकी समस्याओं पर साकारात्मक कार्यवाही करना नितान्त आवश्यक है। तबी इन समाज में प्रगति संभव हो पाएगी।

1.7 आदिवासी साहित्य

साहित्य सचमुच आवाज़ है, हाशिएकृतों शोषितों एवं पीडितों की आवाज़। वे अपनी हक केलिए लडते हैं अधिकार की माँग करते हैं, अस्मिता की पहचान कर लेते हैं अपनी हैसियत केलिए आवाज़ उठातें हैं। यह सदियों से दमित किए गए वर्ग की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है। हाशिएकृत, शोषित, एवं दमित वर्ग की तरह आदिवासी भी अपनी रचनाओं के ज़रिए अपनी आवाज़ को जो बिल्कुल अलग एवं अद्वितीय है बुलन्द करते हैं। इस अर्थ में यह भी एक अस्मिता विमर्श है।

मुख्यधारा के लोगों द्वारा आदिवासियों के जीवन पर आधारित जो साहित्य रचा गया है उसका सम्मान एवं स्वीकार करते हुए कहना चाहते है कि वह अपूर्ण है। क्योंकि अन्य अस्मिता विमर्श के समान उसमें भोगे हुए जीवन यथार्थ की पीडा का अनावरण नहीं हुआ है। जीवनानुभव से निसृत शब्दों में अनुभव की तपिश रहती है। वह तपिश आदिवासी साहित्य में उपलब्ध है। इसलिए गैर आदिवासियों की महत्ता को स्वीकारते हुए आदिवासी द्वारा लिखित साहित्य को श्रेष्ठ मानना ही पडता है। इसलिए आदिवासी

साहित्य नाम के औचित्य पर सन्देह करने की कोई ज़रूरत नहीं। महादेव टोप्पो का कहना है - "किसी भी भाषा समूह या समुदाय का साहित्य उसके समग्र जीवन का शब्दों द्वारा चित्र है और अगर यह भाषा, आदिवसी समुदाय से जुड़ी है तो निश्चय ही इस साहित्य क नाम अन्य साहित्य की तरह आदिवासी साहित्य होगा।"[1]

आदिवासी साहित्य किसी एक भाषा या भौगोलिक सीमा से बँधी हुआ नहीं है। ये विशेष मानसिक, सांस्कृतिक, भौगोलिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक संदर्भों में, विशिष्ट जीवन-शैली के वातावरण में पन्पे हुए हैं। साहित्य जीवन को देखने समझने का अलग दृष्टिकोण एवं अनुभव देकर मनुष्य को दृष्टि संपन्न बनाता है। आदिवासी साहित्य में भी यही प्रयास देख सकते हैं लेकिन आदिवासी वातावरण में विकसित अपने नज़रिये से।

इसमें आदिम मानव के सरल, सहज, पवित्र, स्निग्ध, स्नेहपूर्ण, भावुक एवं संवेदनशील ह्रदय की रागात्मक अभिव्यक्ति देखने को मिलती है। साथ ही आदिवासी जीवन का सत्य यथार्थ संकट, वर्तमान स्थिति, संस्कृति एवं प्रकृति केन्द्रित जीवन दृष्टि का भाव समाहित है।

आदिवासी साहित्य विमर्श का प्रारंभ सन् 1960 से हुआ। इस संदर्भ में आदिवासी कार्यकर्ता डॉ. माहेश्वरी गावीत ने अपने आलेख 'आदिवासी साहित्य से आदिवासी जीवन का परिवर्तनात्मक दर्शन' में लिखा है कि "आदिवासी साहित्य जीवन के रूप में जिस साहित्य का नामनिर्देश किया

---

1. महादेव टोप्पे - सभ्यों के बीच आदिवासी, पृ. 73

जाता है वह साहित्य आमतौर पर सन् 1960 के बाद उदयोन्मुख हुआ। और सन् 1975 के बाद वह अधिक सशक्त हुआ। स्वातंत्र्योत्तर काल के भारतीय सामाजिक जीवन में काफी परिवर्तन संपन्न हुए हैं। राजनीतिक परिवर्तन, शिक्षा-प्रसार पंचवर्षीय योजना आदि के कारण सामाजिक जीवन में आमुल्याग्र परिवर्तन हुआ। लोकतंत्र तथा शिक्षा का विचार आदिवासियों तक पहूँचा।"[1]

डॉ. गंगा सहाय मीणा के अनुसार 'आदिवासी साहित्य की शुरुआत सन् 1991 के बाद आर्थिक उदारीकरण, विदेशी कंपनियों के निवेश और पसरते बाज़ारवाद से आदिवासियों और उनकी प्राकृतिक संपदाओं पर हस्तक्षेप बढ़ा। तब प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के विरोध में शिक्षितों के माध्यम से राष्ट्रीय स्तर पर आदिवासियों की रचनात्मक उर्जा को आदिवासी साहित्य की संज्ञा दी गई।"[2]

रमणिका गुप्ता भी आदिवासी साहित्य को आदिवासियों और गैर आदिवासियों के बीच पैदा हुई एक चेतना के रूप में मानती है वह कहती है कि 'दूसरों द्वारा अपने दुख की चर्चा की बजाय अपना दुख खुद व्यक्त करने की चेतना के साथ ही साथ जगी सदियों की चुप्पी तोड़कर प्रस्थापितों द्वारा घेरे गए दायरे और लक्ष्मण रेखाएँ तोड़ने की चेतना।"[3]

'वंदना टेटे' के अनुसार आदिवासी साहित्य मूलतः सृजनात्मकता का साहित्य है। यह इनसान के उस दर्शन को अभिव्यक्त करनेवाला साहित्य है,

---

1. डॉ. बापूराव देसाई - आदिवासी साहित्य विधा, शास्त्र और इतिहास, पृ. 33
2. गंगा सहाय मीणा - बहुजन वार्षिकी अप्रैल 2013
3. सं. रमणिका गुप्ता - आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 06

जो मानता है कि प्रकृति सृष्टि में जो कुछ भी है, जड़-चेतन, सभी कुछ सुन्दर है।... वह दुनिया को बचाने के लिए सृजन कर रहा है।"[1]

कहने का मतलब यह हुआ कि आदिवासी साहित्य जीवन का साहित्य है, कल्पना और मनोरंजन का किस्सा नहीं। हिन्दी साहित्य की तरह इसे भी तीन कालों में विभाजित किया जा सकता है। आदिकाल, मध्यकाल और आधुनिक काल।

1.7.1 आदिकल

आदिवासी साहित्य का आदिकाल इ.श. 1854 पूर्व का साहित्य समझ जाता है। यह साहित्य 'होड़' अवतार या लोकयुग के नाम से प्रचलित है। आदिकाल में आदिवासी होड़, मुंडारी आदि नाम से परिचित थे। इस समय का समाप्त आदिवासी साहित्य मौखिख रूप में ही ही उपलब्ध है। इनके मौखिक साहित्य में कहानी, गीत, गाथा कथा, मुहावरे लोकोक्तियाँ, कहावतें दि देख सकते है। लोक साहित्य के रूप में प्रख्यात इसमें मानव की परंपरागत भावनाएँ, एवं चेतनागत अभिव्यक्तियों का लेखा-जोखा निहित है। इस समय के साहित्य की मुख्य विशेषताएँ हैः-

1.7.1.1 प्रकृति का मानवी रूप में चित्रणः- आदिवासी लोक कथाओं में और लोकगीतों में प्रकृति का वर्णन मानवी रूप में किया है। इनमें उनका जीवन और संस्कृति का जैसा सर्वव्यापी रूप दिखाई देता है वैसा कहीं नहीं है।

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, आदिवासी साहित्य अवधारणा, परंपरा और इतिहस' लेखने से, पृ. 43

1.7.1.2 लोकगीतों में भावों की अभिव्यक्तिः- इनके लोकगीतों में मानवीय भावों की प्रचुरता है। हृदय से निकली हुई गीतों में जीवन की सच्ची झलक, भाई-बहन की विरह गाथा, युगल प्रेमियों के मिलन-विरह किसनों की गरीबी आदि अनेक भाव इन गीतों में व्यक्त होते है।

1.7.1.3 देशकाल पात्र और घटनाओं के अनुरूप कथा विकासः- आदिकालीन आदिवासी साहित्य में लोककथा, लोकगाथा, किंवदतियाँ तथा मिथक कथाएँ आदि सभी देश-काल-क्रमानुसार है।

1.7.1.4 जादु एवं जादू शक्तियों का महत्वः- आदिवासी जादुई शक्तियों पर विश्वास करता है तथा उनमें तंत्र-मंत्र का चलन है। जादू-टोना एवं तन्त्र-मंत्र जानने वाले, गुनियाओं, ओझाओं, पेडों के तीन गुण के रूप में इनमें चित्रित है।

1.7.1.5 पशु-पक्षी द्वारा संदेश भेजनाः आदिकाल में लोककथाओं में प्रमुख रूप से एक-दूसरे को संदेश भिजवाने के लिए पशु या पक्षी का सहारा लिया जाता है।

इस काल के साहित्य को मौखिक साहित्य या लोक साहित्य कहने के साथ पुरखा साहित्य भी कहते है। इस संदर्भ में आदिवासी चिंतक वंदना टेटे लिखती हैं कि..."आदिवासी समाज और संस्कृति में पुरखों का बहुत महत्व है और मौखिक परंपरा में मिलनेवाले गीत, कथाएं आदि भी पुरखों ने ही रची हैं, इसलिए इस मौखिक परंपरा को सम्मिलित रूप में पुरखा साहित्य कहना चाहिए।"[1]

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 47

1.7.2 मध्यकाल (1854 से 1945 तक)

1854 से 1945 तक का जो साहित्य है उसे 'खेखाड अवतार' का साहित्य कहा जाता है। इस काल में आदिवासी भाषा संथाली को लिखित रूप दिया गया। मध्यकाल में सबसे अधिक विदेशी मिशनरियों का प्रादुर्भाव रहा। जिसके माध्यम से आदिवासी लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों मुहावरों आदि का संकलन और प्रकाशन कार्य किया गया।

हिन्दी की तरह विदेशी मिशनरियों ने अपने धर्म का प्रचार-प्रसार करने के लिए आदिवासी भाषा का ज्ञान लेना या उस भाषा को सीखना आवश्यक मानते थे। इसको ध्यान में रखते हुए आदिवासी भाषा का व्याकरण और शब्दकोश का निर्माण किया। धर्म परिवर्तन भी इनका लक्ष्य था। मध्ययुग में विदेशी मिशनरियों का प्रभाव था। मध्ययुग में विदेशी मिशनरियों का प्रभाव अधिक मात्रा में था। रिव. पाऊप आलोक बोडिंग साहब ने आदिवासी भाषा संथाली के विकास केलिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ईसाई मिशनरियों ने धर्म के प्रचार-प्रसार करने केलिए अनेक पुस्तकें लिखी हैं। ईसाई मिशनरियों ने धर्म के प्रचार-प्रसर करने के लिए सन् 1890 ई. में 'पेड़ तथा होड़ होपोन?', 'रेन पेज़' नामक दो पत्रिकाएँ संपादित कीं। इसमें ईसाईयों से संबंधित गीत, भजन आदि संथाली और मुंडा भाषा में अनुदित किया। इसके अलावा 'एक संथाली डिक्शनरी' 'संथाली अंग्रेज़ी शब्दकोश', मटेरियल पोर संथाली ग्रामर' आदि पुस्तकें रोमन लिपि एवं

अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से प्रकाशित की गई। इसके साथ री.सी.एच बोम्पास ने सन् 1909 ई. में 'फोकलोर ऑफ दि संथाल परगना' पुस्तक का प्रकाशन किया जिसमें कुल मिलाकर 185 लोक कहानियाँ संग्रहित हैं।

इस प्रकार देखे तो प्रतीत होता है कि मध्ययुगीन साहित्य आगे की ओर रफ्तार में चल रहा था। इसी काल में अनेक प्रकार के संगठन और आन्दोलन हुए हैं।

संथाली साहित्य के साथ-साथ मुंडारी साहित्य के विकास को ऊँचा उठाने का प्रयास भी विदेशी मिशनरियों ने किया। संथाली, मुंडारी, हलवी आदि आदिवासी साहित्य का लेखन मध्यकाल में ही आरंभ हुआ। इस प्रकार आदिकाल की अपेक्षा मध्यकाल को आदिवासी साहित्य केलिए स्वर्ण युग मानना चाहिए। क्योंकि इस काल में विविध संगठनों द्वारा, विदेशी मिशनिरियों द्वारा आदिवासी चेतना को जगाने का और आदिवासी बोली तथा भाषा को साहित्य में स्थान देने का महत्वपूर्ण कार्य हुआ। सन् 1931 में ईसाई मिशनरियों के कारण साहित्य को एक नयी दिशा मिली। जिसके माध्यम से कविता, कहानी, व्याकरण, निबन्ध आदि विधाओं में साहित्य का प्रारंभ हुआ।

1.7.3 आधुनिककाल सन् 1945 ई. से

आधुनिक काल आदिवासी साहित्य का तीसरा युग है। बस युग में गीत, कहानी, उपन्यास, नाटक आदि विधाओं में लेखक अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया था।

1.7.3.1 आदिवासी काव्य साहित्य

सन् 1951 में 'एबेन आडाड़-जागरण आवाज' काव्य पुस्तक का प्रकाशन करके स्वतन्त्रता का महत्व बताया गया। देवनागरी, बंगला ओडिया तथा रोमन लिपी में अनेक रचनाएं लिखी गयी थी। जैसे प्रो. इन्द्रजीत उरौप की 'डालटेनगंज' 'कुइख खी ही' लयबुड़ा, कुक्की, ग्रेस हुजूर की कविताएँ, 'नारायम सोरेन' की 'उफादिया', 'उरनी सेंगल', 'बरवी पुराण', 'कार्यकटी' आदि। नुअसकेरकेट्ट का 'खण्डकाव्य हेड़प भवकडिड बेह' खाड़िया कविताएँ, पोग्र फर्नाडीस की 'मूइयेपोंदा' तथा भुजंग मेश्राम का 'उलगुलान' कविता संग्रह जैसी रचनाएँ इस युग की उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

1.7.3.2 नाटक

इस युग मैं अनेक रचनाकारों ने नाटकों की नीर्मिति की है, जिसमें रघुनाथ मुमू का खेखाड़ बीड, औंखाडेगे धोन, कालीरम सोरेन का सिद्धो-कान्त, कृष्णचन्द्र टुटू का नाटक 'जुटी खातीर' किरिन-सिदरू, 'बोगला सोरेन का सोसनो' तता एरावाः आईदारी, बाडेदारे, रोमझोल, बानिज बहू, चेत रे चिकायेना आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई। इन नाटकों में सामाजिक दायित्व का महत्व आधिक है। समाज को सजग कराने का प्रयास किया गया। आधुनिक नाटककारों ने अधिकतर सामाजिक ऐतिहासिक और राजनीतिक नाटकों की रचना की है लेकिन रंगमंच नहीं था। फिर भी नाटकों के ज़रिए विभिन्न समस्याओं को प्रस्तुत करके साहित्य को गतिशीलता प्रदान करने में वे संक्ष्म निकले।

1.7.3.3 उपन्यास साहित्य

बिरसा मुंडा के नेतृत्व में आदिवासियों के स्वतंत्रता संग्राम की भूमिका पर आधारित उपन्यास लिखे गये थे। स्वतंत्रता मिलने के बाद आदिवासी संथाली और मुंडा लेखकों ने कई उपन्यास लिखे। सन् 1956 ई. आदिवासी उपन्यास साहित्य का एक महत्वपर्ण बिन्दु है। क्योंकि इसी वर्ष में आर. आर. किस्कू. राबाज ने 'हाडमावा आतु' उपन्यास को प्रकाशित किया। उसके प्रकशन के बाद अनेक लेखकों ने राजनीतिक, सामाजिक तथा ऐतिहासिक उपन्यास लिखे। नुनकू सोरेन लिखित 'महिला चेतेन बाई' सन् 1975 में सी. मुरमू लिखित 'भारनडो' तथा चन्द्रमोहन द्वारा 'मानूमाती' और कृष्णचन्द्र हेम्ब्रस द्वारा लिखित 'तोपाः तोनोल' भोगी सोरेन द्वारा लिखित उपोल, भागवत मूरमू ठाकूर द्वारा लिखित 'बारनबेडा' दिवेन्द्र टुइ लिखित 'संथाल परगना रेन दोपोन एरा, तुफून घाट, 'जिवी जियाड, झारना' माया झाली आदि। मलयालम में नारायण लिखित कोच्चरेत्ती, ऊरालिकुडी, उपन्यास हिन्दी में पीटर पाल एक्का के सोन पहाड़ी, मौनघाटी, जंगल के गीत, वाल्टर भेंगरा तरुण का 'शाम की सूबह, गैंग लीडर, शंकर लाल मीणा का 'अघोषित' आदि उपन्यास भी उल्लेखनीय है।

इन उपन्यासों में बिरसा के नेतृत्व में हुए उलगुलान के संदर्भ तथा आदिवासी समाज की रूढ़ियों प्रथाओं और अंधविश्वासों का चित्रण किया गया है।

1.7.3.4 कहानी साहित्य

आदिवासी कहानी साहित्य की शुरुआत सन् 1942 ई. में हुई। 'मारसाल' नामक पत्रिका में प्रथम आदिवासी कहानी चुनकुराम टुडू द्वारा लिखी गई 'उलचाकती' प्रकाशित हुई। इस के बाद अन्य आदिवासी कहानियाँ विभिन्न पत्रिकाओं में तथा पुस्तकों के रूप में प्रकाशित हुई। सन् 1975 में निरबल भी सोरेन द्वारा संपादित 'गाथाव माला' का प्रकाशन हुआ। सन् 1978 में डोमन साहू संपादित 'मायाजाल' नामक पुस्तक का प्रकाशन हुआ। इनके बाद अनेक कहानी पुस्तकों का प्रकाशन इस कलावधि में हुआ।

वर्तमान समय में अलग-अलग विषयों पर अलग-अलग लेखकों ने कहानियाँ लिखीं है। प्यार केरकेट्टा की 'गोल्ड और बेरथअ बिहा' नामक कहानियां प्रसिद्ध है। पीटर पॉल एक्का की कहानी 'खुला आसमान बंद दिशाएँ', 'परती ज़मीन', 'मंजू ज्योत्सना' की 'जह-गयी-ज़मीन' वाल्टर भेंगरा की कहानी 'लौटती रेखाएँ' जंगल की ललकार' संकर लाल मीणा की 'आखिर कब तक' आदि कहानियाँ वर्तमान आदिवासी जीवन का दस्तावेज़ है।

इन कहानिकारों के अतिरिक्त और भी कहानिकार हैं जिन्होंने विभिन्न पत्रिकाओं और पुस्तकों में कहानियां प्रकाशित की हैं। जैसे वाल्टर भेंगरा तरुण की कहानी 'खकरा' रोज केरकेट्टा की 'भवंर' पीटर पॉल एक्का की कहानी 'राजकुमारों के देशों में, डॉ. मंजू ज्योत्सना 'प्रायश्चित' शंकरलाल

मीणा की कहानी 'कहानी के बाहर की औरत', रामधन लाल मीणा की 'अप्रत्याशित' आदि कहानियों में आदिवासियों के मन को छूने का प्रयास किया है।

इस प्रकार देखे तो आज के संदर्भ में आदिवासियों के जीवन की प्रत्येक समस्याओं को पकड़ जाने और तीव्रता के साथ अभिव्यक्त करने में आदिवासी कहानियाँ संक्ष्म है।

1.7.3.5 निबंध और अन्य रचनाएँ

जिस तरह काव्य, कहानी, उपन्यास, नाटक लिखे गये उसके साथ ही निबन्ध का लेखन भी आदिवासी साहित्य में देखा जा सकता है। आदिवासी समाज में पैदा हुई नई सांस्कृतिक और राजनीतिक चेतना को लेखकों ने लेख, आलेख, जीवनी, निबन्ध आदि के रूप में प्रकाशि किया। इन लेखों के माध्यम से समाज-सुधार-शिक्षा-प्रचार-प्रसार तथा राजनीतिक गतिविधियों को महत्व दिया गया है।

मुचिराय मुंडा ने सन् 1951 ई. में बिरसा भगवान शीर्षक से बिरसा की प्रथम जीवनी लिखी। इसमें अंग्रेज़ों के विरुद्ध राष्ट्रीय इतिहास के संदर्भ में बिरसा और उनके आन्दोलन का चित्रण है। सन् 1957 ई. में आँदी फ्रीडम मूवमेन्ट ऑफ बिहार और 1958 में 'बिहार थ्रू एजेस' का प्रकाशन हुआ। इन पुस्तकों में बिहार में अंग्रेज़ों के विरुद्ध किए गए आन्दोलनों को फ्रीडम मूवमेन्ट के साथ जोड़ने की कोशिश देख सकते हैं. सन् 1962 में

प्रकाशित हिस्ट्री ऑफ फ्रीडम मूवमेट इन बिहार' का प्रकाशन हुआ। आदिवासियों पर हो रहे अन्याय, अत्याचार एवं शोषण के विरुद्ध आक्रोश है इन रचनाओं में। सन् 1977 में बाबूलाल मुरमू की 'संथाली ओनोल' तथा आपनास्त आरी बांदी' और रामी टुडू लिखित 'खेलाल सँखता आरी चाली' चुडां सोरेन की 'तिरियो बाढोपो', दमन हाँसदा की रोमणोम पाता माई' एवं सिद्धो-कान्टू-हूस' का प्रकाशन हुआ।

इन ग्रंथों के साथ ही साथ व्याकरण शब्दकोश भी आदिवासी साहित्य में पाये जाते है। 1951 में 'संतावली शब्दकोश', प्रकाशित हुआ। 'सांवताली भाषा लिपि समस्या', 'संताली व्याकरण' मुंडारी भाषा', 'कुदुम मुराई', आद पारसी' आदि पुस्तकें प्रकाशित हुई। इनमें से अधिकतर हिन्दी भाषा के माध्यम से देवनागरी लिपि में प्रकाशित हुई हैं।

इस प्रकार देखे तो पता चलता है कि आदिवासी साहित्य अन्य किसी भी साहित्य के प्रतिकूल नहीं है। बल्कि वह तो स्वतंत्र, स्वयंभू, एवं स्वयं सिद्ध है। इनकी प्रेरणा स्रोत जो है उसके अस्तित्व के समान ही प्राचीन तथा पृथक है।

1.7.4 समकालीन आदिवासी साहित्य

समकालीन आदिवासी लेखन की शुरुआत उदारवाद, बाज़रवाद और भूमंडलीकरण के उभार से मानी जाती है। जब एक समुदाय साक्षर होता है सजग होता है। तब वह कई तरीके से अपने ऊपर होनेवाली कई समस्याओं

के बारे में सोचना आरंभ करता है। आदिवसी समाज भी वर्तमान समय में अपने ऊपर होनेवाली विविध मुखी समस्याओं के प्रति सजग है। यह सजगता का परिणाम है समकालीन आदिवासी साहित्य।

आज इनमें चेतना जगी है। वह नई-नई विचारधाराओं और क्रान्तियों से परिचित है। जिसके परिप्रेक्ष्य में वह अपनी पुरानी और नई स्थितियों को मापने लगा है। उसमें अपने होने न होने, अपने अस्तित्व की वर्तमान स्थिति, अपने साथ हुए भेदबाव व अन्याय का बोध भी जगा है। यही बोध उसकी समकालीन रचनाओं में झलक रहा है। विशेषकर समकालीन हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में ।

भारत सरकार की नई आर्थिक नीतियों ने आदिवासी शोषण-उत्पीड़न की प्रक्रिया को तेज कर दी। क्योंकि आजाद भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ शहरीकरण औद्योगीकरण की प्रक्रिया भी विकसित हुई। इसके बाद संचार क्रान्ति, भूमंडलीकरण, उदारीकरण, निजीकरण की नीतियाँ आदि ने समाज में अपना वर्चस्व स्थापित किया। भूमंडलीकरण की इस वैश्विक अवधारणा को देश के विकास के नाम पर स्वीकार किया। लेकिन इससे गरीबों की गरीबी तो बढ़ा गयी और आम जनता का अस्तित्व खतरे में पहुँच गया। भूमंडलीकरण और निजीकरण के इस खतरे को ध्यान में रखते हुए रमणिका गुप्ता ने जो कहा वह बिलकुल महत्वपूर्ण है कि 'निजीकरण ने बाज़ारवाद को बढ़ाया है। आदिवासियों पर इसका दुष्प्रभाव पड़ा है।

निजीकरण से शिक्षा, दवाई आदि सभी चीजें महंगी हो गई है। इसकेलिए नौकरी के अवसर भी कम होते जा रहे हैं। भूमंडलीकरण की मुख्य समस्या है कि यह केवल पूंजी को देश से बाहर जाने देता है न कि श्रमिक वर्ग को।"[1]

भूमंडलीकरण की वैश्विक अवधारणा में सर्वाधिक कष्ट भोगनेवाला समूह है आदिवासियों का। क्योंकि भूमंडलीकरण ने उनकी जीवन पद्धतियों जीवन मूल्यों, मान्यताओं तथा भाषा संस्कृतियों को विनाश की स्थिति में पहुँचा दिया। इसके बारे में मैनेजर पाण्डेय ने कहा, 'जब राष्ट्र-राज्य और ग्लोबल गाँव के देवताओं का गठजोड़ हो जाता है तो वह विनाश को जन्म देता है। तथाकथित ग्लोबल गांव के देवता (दानव कहना अधिक संगत होगा) आदिवासी बहुल क्षेत्रों की बू-सम्पदा, खनिज संपदा, प्राकृति एवं वन सम्पदा जल संसाधनों पर कब्जा हथिया कर आदिवासियों को पलायन करने पर मज़बूर कर देता है। इन दानवों ने अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्वबैंक एवं विश्व व्यापार संगठन का सहारा लेकर वैश्विक बाज़रवाद के सहारे भारतीय सर्वहारा एवं आदिवासी का सर्वनाश ही किया है।"[2]

भूमण्डलीकरण आर्थिक साम्राज्यवाद की एक ऐसी नीति है जो दुनिया को सिर्फ उत्पाद और उपभोक्ता के रूप में मानती है। आदिवासी समाज के संदर्भ में कहे तो बाज़ार में उनकी पहचन, समानता, भाईचारा व

---

1. सं. रजनी गुप्ता - आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य, से लेख बदलाव केलिए प्रतिबद्ध है आदिवासी साहित्य, पृ. 38
2. वही

आज़ादी को चोट पहूँचाया। विकास के नाम पर इनकी पुश्तैनी धन्धे खत्म करने, रोज़गार के अवसर छीनने, तथा स्वास्थ्य, शिक्षा, आवास जैसी मूलभूत आवश्यकताओं को नष्ट करने की प्रक्रिया चल रही है। इन सबके बीट अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए ही आदिवासियों ने कलम उठा लिया। एक क्रान्तिकारी बदलाव है आदिवासी साहित्य लेखन। अपनी अस्मिता को बनाये रखने केलिए साहित्य लेख द्वारा प्रतिरोध व्यक्त करना वह चाहता है। 'आदिवासी साहित्य अस्मिता की खोज, दिकुओं द्वारा किए गये और किए जा रहे शोषण के विभिन्न रूपों के उद्‌घाटन तथा आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व के संकटों और उनके खिलाफ हो रहे प्रतिरोध का साहित्य है। यह उस परिवर्तनकामी चेतना का रचनात्मक हस्तक्षेप है, जो देश के मूल निवासियों के वंशजों के प्रति किसी भी प्रकार के भेदभाव का पुरजोर विरोध करती है तथा उनके जल, जंगल, ज़मीन और जीवन को बचाने के हक में उनके, 'आत्मनिर्णय' के अधिकार के साथ खड़ी होती है।"[1] इसका प्रभाव समकालीन साहित्यिक विधाओं में देखा जा सकता है, विशेषकर समकालीन आदिवासी उपन्यासों में।

मानव चेतना में और समाज में तरह-तरह के भौतिक और आध्यात्मिक परिवर्तन होते रहते हैं। इन्हें प्रस्तुत करने का श्रेष्ठतम माध्यम उपन्यास है।

समकालीन आदिवासी उपन्यासों में अपने समय के भोगे हुए यथार्थों का चित्रण हुआ है। आदिवासी अपनी अलग अस्मिता केलिए लिखते हैं। यह

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 42

उनका प्रतिरोध भी है। आदिवासी जीवन को आधार बनाकर लिखे गए उपन्यासों में आदिवासी उपन्यासकरों की रचनाएँ शामिल हैं। उनमें प्रमुख हैं, 'सन्तोष प्रीतम' का पलाश का फूल (1985) पीटर पॉल एक्का का मौनघाटी (1982) दोनों मुण्डा आदिवासियों पर केन्द्रित है। संजीव का सावधान! नीचे आग है (1980), राकेश वत्स का जंगल के आस पास (1986), 1900 में संजीव का 'धार', मनमोहन पाठक का गगन घटा घहरानी (1991) शिवप्रसाद सिंह का शैलूश (1989) वीरेन्द्र जैन का 'डूब' और 'पार' (1994) विनोद कुमार का समरशेष है (1999) हरिराममीणा का धूणी तपे तीर (1008) संजीव का जंगल जहाँ शुरु होता है (2000) राकेश कुमार सिंह द्वारा दो उपन्यास लिखे है 'पठार पर कोहरा (2003) जहाँ खिले है रक्त पलश 92003) मधुकर सिंह का बाजद अनहद ढोल (1992) श्रीप्रकाश मिश्र का 'जहाँ बाँस फूलते है (2011) विनोद कुमार का रेड ज़ोन (2015) तेजिन्दर का काला पादरी (2002) मधुआ माजी की मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ (2012) अश्विनी कुमार पंकज का माटी माटी अरकाटी (2016) आदि।

ये उपन्यास सचमुच आदिवासी जीवन का सही दस्तावेज़ हैं। इनमें उनके जीवन के यथार्थों का बहुआयामी पहलुएँ अनावृत हुए हैं। उन पहलुओं का विश्लेषणात्मक अध्ययन है आगामी अध्यायों में।

1.8 आदिवासी संघर्ष के इतिहास

आदिवासियों का जीवन संघर्षों और विद्रोहों से भरा हुआ है। क्योंकि

वे अनादिकाल से अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए अपनी अस्मिता को बनाए रखने के लिए निरंतर संघर्ष कर रहे हैं। लेकिन ये संघर्ष मुख्य धारा साहित्य या इतिहास में देखने को नहीं मिलेगा। क्योंकि इतिहास हमेशा वरेण्य वर्ग का होता है न कि हाशिएकृत का। उन्होंने आर्यों के विरुद्ध, अंग्रेज़ों के विरुद्ध संघर्ष किया था अब भूमंडलीकरण के विरुद्ध भी वे अपना प्रतिरोध जाहिर कर रहे हैं अपने अस्तित्व को बनाए रखने केलिए।

ब्रिटिश शासक आदिवासी इलाकों में अपने पांव न जमा सकें, इस उद्देश्य को लेकर आदिवासियों ने अने युद्ध लड़े हैं। सन् 1857 के स्वतंत्रता संग्राम के बहुत पूर्व ही इनके द्वारा लडे गए युद्ध आरंभ हो चुके थे। इन युद्धों में अनेक आदिवासी नेताओं ने अविस्मरणीय वीरता का परिचय दिया था। उनमें से कुछ संघर्ष हैं।

1.8.1 संथाल परगना का विद्रोह (1784)

यह विद्रोह तिलका मांझी के नेतृत्व में किया गया था। संथाल परगना क्षेत्र में आदिवासी जनता शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए उठ खड़ी हुई। तिलका माँझा राजाओं का खजाना लूटकर बिना किसी भेदभाव से आदिवासियों के बीच बांटा करता था। आदिवासी लोग उसे मुक्तिदाता समझते थे। तिलका माँझी ने अने क्षेत्र से गैर-आदिवासियों याने कि अंग्रेज़ों को भागाने की कोशिश की। 1784 में तिलका मांझी ने अपने सहयोगियों से मिलकर भागलपुर पर आक्रमण किया। उन्होंने अंग्रेज़ी

कप्तान क्लीवलैंड की छाती में तीर मार दिया। और उन्होंने समझाया कि अंग्रेज़ी सेना की हिम्मत टूट गई और वे लोग जश्न मनाने लगे। उसी समय रात में अंग्रेज़ी सेना ने 'आयरकूट' के नेतृत्व में आक्रमण किया। तिलका मांझी तो बच गया लेकिन उनके साथी गण गिरफ्तार हुए। बाद में सुलतानगंज की पहाडियों में शरण लेकर तिलका माँझी ने युद्ध चलाया। लेकिन अंत में धोखे से तिलका माँझी को गिरफ्तार कर बड़ी बेरहमी से एक बरगद के पेड़ पर फांसी पर लटका दिया गया।

1.8.2 हो विद्रेह 91820-21)

सन् 1820-21 में हो लोगों ने सिंहभूम क्षेत्रमें अनियमित लड़ाई की राजनीति अपनाई और अपनी रक्षा केलिए तथा ब्रिटिश और स्थानीय राजा ने अपने आपसी झगड़े में 'हो' लोगों को कठपुतली की तरह इस्तेमाल किया। वहाँ के राजा जगन्नाथ सिंह और ईस्ट इंडिया कंपनी ने सरकार की रक्षा का वादा देते हुए एक समझौते पर हस्ताक्षर किया। समझौते की प्रमुख बातें थीं - अंग्रेज़ी की मदद से विद्रोह जन जातीय लोगों की महत्वाकांक्षा का दमन कर उन्हें अपने अधीन लाना। इस का असर 'हो' लोगों के जीवन पर पड़ा। वे हिंसा पर तुले हुए थे। अंग्रेज़ों ने उनकी मदद के लिए मेजर रफसेज को भेजा। लेकिन उनकी चालों को 'हो' लोगों ने समझ लिया। रफसेज ने चाईबासा में अपना कैम्प गाड़ दिया। 'हो' लोगों ने अपने को बड़ी संख्या में एकत्रित किया और अंग्रेज़ी सेना पर तीर और धनुष से हमला किया। 1821

में हो लोगों ने पुखरिया और चैनपुर में अंग्रेज़ों को पराजित किया, इस पराजय के बाद अंग्रेज़ों ने कर्नल रिचड्र्स के नेतृत्व में हो लोगों पर आक्रमण किया। लेकिन अंत में ब्रिटिशों की अधीनता स्वीकार करते हुए हो लोगों को उनसे समझौता करना पडा।

1.8.3 कोल विद्रोह (1831-32)

छोटानागपुर में 1831 के अंत में पहले के विद्रोहों से अधिक भयानक विद्रोह हुआ। मुण्डा एवं हो लोगों ने जमींदारों एवं दिकुओं के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह किया। अत्याचारी ज़मीन्दारों एवं दिकुओं के खिलाफ जबरदस्त विद्रोह किया। अत्याचारी जमींदार थर-थर कांपने लगे। इतने भीषण विद्रोह के आगे अंग्रेज़ी शासक की काँपते लगी। इस विद्रोह को कोल विद्रोह के नाम से जाना जाता है।

कोल विद्रोह का मूल कारण भूमि संबंधी असन्तोष था। ओर एक कारण था दिकुओं द्वारा आदिवासियों के प्रति अत्याचारपूर्ण व्यवहार। दिकुओं ने आदिवासी स्त्रियों के साथ दुर्व्यवहार किया। अपमानित एवं उत्पीड़ित आदिवासी लोगों ने 'लंका' नामक गाँव में हज़ारों आदिवासियों की सभा बुलाई और अपने अपमान का बदला लेने के लिए संकल्प लिया। कोल विद्रोह के प्रमुख नेता बिन्दराम मानकी था।

कोल विद्रोह के परिणाम स्वरूप 1833 के रेगुलेशन 13 के तहत

अनेक प्रशासनिक परिवर्तन हुए । ईस्ट इंडिया कंपनी के अप्रत्यक्ष शासन का अन्त हुआ तथा अलगाववादी नीति का आरंभ हुआ।

1.8.4 संथाल विद्रोह (1855-57)

झारखंड के आदिवासी सदियों से बिलकुल अलग भौगोलिक स्थितियों में रहे थे। मुख्यधारा समाज से अलग होकर। वे अपने परंपरागत जीवनशैली में ही जीना चाहते थे लेकिन ब्रिटिश सरकार ने आदिवासियों को भी औपनिवेशिक घेरे में घसीट लिया। भूमि के हस्तांतरणों, साहूकारों के आर्थिक शोषणों एवं सामाजिक जीवन में हो रहे परिवर्तनों से उनको अपनी संस्कृति और आर्थिक स्थिति के विनाश की संभावना नज़र आने लगी। अतः उनके विरुद्ध आदिवासी विद्रोह करने लगे। इन्हीं विद्रोहों में एक विद्रोह है संथाल विद्रोह।

संथालों के बीच के असंतोष को विद्रोह के रूप में परिवर्तित करने का श्रेय सिद्धू और कान्हू नामक दो संथाल भाइयों को है। जून 1855 में भगनाडीह नामक स्थान पर संथालों की एक विशाल जनसभा हुई जिनमें अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध विद्रोह की घोषणा की गई। सिद्धू और कान्हू की घोषणा के बाद युद्ध प्रारंभ हुआ। एक महीने में ही इसका भयंकर रूप सामने आने लगा।

संथालों ने सर्वप्रथम ऐसे लोगों पर आक्रमण किया जिन्होंने धोखे से

धन-वेभव एकत्र किया था। सिद्धू-कान्हू द्वारा संचालित एक संथाल विद्रोह का परिणाम यह निकला कि विद्रोह का कुचले दिए जाने के बाद संथाल लोगों के कष्टों एवं दुर्दशाओं की सरकारी जाँच शुरु हुई।

1.8.5 मुंडा विद्रोह (बिरसा का उलगुलान)

झालखंड का सबसे प्रमुख आदिवासी आंदोलन 1895-1900 का बिरसा मुंडा आंदोलन था जो पुनर्जागरणवाद, राजनीतिक कार्यवाई और एक आदर्श राज्य की खोज का मिश्रण था। बिरसा ने अपने लोगों को धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक स्तर पर सुधारने का प्रयत्न किया।

उलगुलान नाम से विख्यात मुंड़ा विद्रोह आदिवासियों के आक्रोश का उत्कृष्ट उदाहरण है। 11 वीं शताब्दी के आरंभ तक मुंडा लोग अपने पारंपरिक, सामाजिक व राजनीतिक ढाँचे में शांतिपूर्ण जीवनयापन करते आए थे। औपनिवेशिक हस्तक्षेप गैर जनजाति घुसपैठ तथा उनकी असामाजिक नीतियों नें मुंडा लोगों के जीवन में प्रतिकूल प्रभाव डाला। मुंडारी व्यवस्था में परिवर्तन के विरुद्ध होनेवाली विद्रोह में बीरसा के धार्मिक-राजनीतिक आन्दोलन का चरमोत्कर्षता मिली।

बिरसा ने 1895 में आन्दोलन की शुरुआत की। उन्होंने अपने साथी लोगों को न डरने तथा साहस की अनिवार्यता को समझाने का प्रयास किया। 1895 में बिरसा को सोए में गिरफ्तार कर लिया गया। 1897 को महारानी

विक्टोरिया के हीरक जयंती के उपलक्ष्य में कैस से मुक्ति मिली । 1899 में डोम्बाड़ी पहाड़ों से बिरसा के अनुयायियों ने तीर-धनुष और परंपरागत हथियारों से सरकार के विरुद्ध भीषण हमला किया। 3 फरवरी 1900 को सिंह भूम में विरसा को बन्दी बना लिया। 3 जून 1900 को रांची जेल में मुकदमे के दौरान ही पच्चीस वर्ष की आयू में महानायक की मृत्यू हो गई।

बिरसा मुंडा आदिवासियों के लिए एक पृथक समाज तथा अर्थव्यवस्था का निर्माण करना चाहते ते, जो उनकी परंपरागत व्यवस्था पर आधारित हो।

कहने का मतलब यह हुआ कि भारत में औपनिवेशिक शासन स्थापित हो जाने के बाद अंग्रेज़ों द्वारा जो नीतियाँ अपनाई गई उनका आदिवासियों पर काफी बुरा प्रभाव पड़ा, उनका समूचा अस्तित्व भी खतरे में पड़ गया था। इस संदर्भ में अपने अस्तित्व की रक्षा केलिए किए गए सभी विद्रोह उनकी धीरता, कर्मठता एवं अस्मिता बोध के निशान हैं।

निष्कर्ष

देश के मूलनिवासी होने के नाते औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल, जंगल, ज़मीन और प्रकृति के संसाधनों पर उनका अधिकार था। लेकिन जब साम्राज्यवादी ताकतें और औपनिवेशिक सत्ताएँ जब मज़बूत होती गयी तब से आदिवासियों का शोषण और अत्याचार बढ़ने लगे। अपनी स्वायत्ता और अस्मिता के लिए जितने व्यापक पैमाने पर

इन लोगों ने विद्रोह किया। उतना देश के किसी अन्य तबके ने नहीं किया हो।

लगातार शोषण और विस्थापन के शिकार होने के कारण इन समुदाय में आक्रोश और विद्रोह का भाव तीव्र होने लगा। जौसे-जैसे शिक्षा का प्रचार-प्रसार और नागरी परिवेश से परिचय बढने लगा उसे अपने मूल्य और अस्तित्व का एहसास होने लगा। उसने अपनी आत्म पहचान को सामाजिक और साहित्यिक दृष्टि में अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। आदिवासी विमर्श इसका परिणाम है। यह एक विमर्श है जिसमें इस समुदाय की परंपरा, रूढ़ियाँ, संस्कृति, न्याय-अन्याय, मान-अपमान, शोषण सब कुछ का बयान हुआ है।

❖ ❖ ❖

दूसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का सामाजिक एवं आर्थिक पक्ष

2.1 साहित्य और समाज

साहित्य और समाज का संबन्ध अटूट है। 'समाज के मन को संस्कारित करने का बहुत बड़ा सामर्थ्य साहित्य में है। सामाजिक जीवन को सँवारने, प्रेरणा देने की ही नहीं बल्कि सामाजिक क्रान्ति लाने का सामर्थ्य भी साहित्य में है। साहित्य नव-समाज-निर्माण केलिए क्रान्ति ला सकता है।"[1] आदिवासी साहित्य भी आदिवासी समाज की बहुरूपी समस्याओं को लेकर आगे बढ़ते हैं। आदिवासी साहित्य के माध्यम से देश-विदेश के आदिवासी समाज की भावनाओं को समझने और समझाने का कार्य भी हो सकता हैं। क्योंकि 'आदिवासियों के साहित्य का मुख्य स्रोत उनका इतिहास, प्रकृति से साहचर्य और उनकी सांस्कृतिक परंपरा में निहित है। इसलिए आदिवासी साहित्य सिर्फ किसी व्यक्ति विशेष की रचना ही नहीं, अपितु आदिवासियों के सामाजिक और सामुदायिक अनुभव जनित साहित्य है।"[2]

साहित्य में आदिवासी समाज और उनका जीवन अब तक उपेक्षित थे। लेकिन आज आदिवासियों में चेतना जगी है। जो आज तक अनबोल रहे हैं, वे अब खुद बोलने लगे हैं। अपने ऊपर होनेवाले अन्यायों एवं अत्याचारों के खिलाफ संगठित होकर वे आवाज़ उठा रहे हैं। उसका परिणाम है आदिवासी साहित्य।

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 28
2. कुमार कमलेश्व - आदिवासी विमर्श पृ. 104

2.2 आदिवासी समाज

आदिवासी समाज समानता की समाज है। उनकी जीवन शैली मनुष्य प्रकृति तथा जीव-जंतुओं का साथ-साथ जीना हैं। आदिवासी युग युगों से जंगलों में रहते हैं और जंगलों के संसाधनों से ही अपना जीवन यापन करते हैं। लेकिन पहले से ही आदिवासी समाज में बाहरी शक्तियों का हस्तक्षेप होता रहा है। याने कि आदिवासी समाज एक ऐसा समाज है, जो अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए निरंतर संघर्ष करता आ रहा है। बाहरी हस्तक्षेप ने आदिवासी समाज में ही नहीं उनके जीवन में भी अनेक समस्याओं को जन्म दिया है।

किसी भी समाज को समझने के लिए उसके संपूर्ण ढाँचे का अवलोकन करना अनिवार्य है। इस दृष्टि से देखे तो आदिवासी समाज में बाहरी हस्तक्षेप की समस्या पौराणिक काल से ही वर्तमान है।

पौराणिक काल में आदिवासियों को असुर, दानव, राक्षस आदि नामों से संबोधित करते हुए उन्हें अपने आवास स्थान जंगलों से बाहर निकाल दिया जाता था। उसके अस्तित्व को मिटाने की वृत्ति पुराण और इतिहास ग्रंथों में भी देख सकते है। ब्रिटिश काल में अंग्रेज़ों द्वारा आदिवासियों के साथ ऐसा ही दुर्व्यवहार किया गया। आदिवासी लेखक प्रभाकर तीर्की ने कहा 'अंग्रेज़ों ने एक के बाद एक भूमि संबन्धी कानून बनाए, जिसके परिणाम

स्वरूप आदिवासियों की भूमि से पारंपरिक अधिकार छीनने की प्रक्रिया शुरु हो गई। अंग्रेज़ों ने न सिर्फ प्रतिवर्ष लगान बढ़ाया बल्कि इसे निर्दयतापूर्वक बसुला भी, जिसे आदिवासियों ने सामंतवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का नाम दिया।"[1] अंग्रेज़ों ने आदिवासियों से न केवल लगान वसूल किया बल्कि उनके क्षेत्रों से कच्चे माल को भी बटोर लिया अपने उद्योगों के विकास केलिए। स्वतंत्रता के बाद भारतीय शासकों ने बाहरी उपनिवेश वाद से ही प्रभावित होकर औद्योगिक विकास की प्रक्रिया को जारी रखा जिसकी शुरुआत अंग्रेज़ों ने किया था।

आदिवासी समाज के लिए जीवन का सब कुछ जंगल है। लेकिन दो दशक पहले भारत सरकार द्वारा अपनाई गई उदारवादी आर्थिक नीतियों ने विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी निवेश का रास्ता खोल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ था कि देशी-विदेशी कंपनियों द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों याने के जंगली इलाकों का अंधाधूंध दोहन शुरु हुआ। हज़ारों बरसों से देश के मूलनिवासी आदिवासियों के निवास स्थान जंगल, नदियाँ, पहाड़ आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों केलिए मुनाफा कमाने के केन्द्र के रूप में बदल गए।

नई आर्थिक नीतियों के बाद शुरु हुए विकास के रफ्तार में सबसे ज़्यादा नुकसान आदिवासियों को झेलना पड़ा। उनकी सबसे बड़ी समस्या अपने 'अस्तित्व' संबन्धित है। उनका अस्तित्व जल, जंगल, और ज़मीन से

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी विकास से विस्थापन, पृ. 42

जुड़ा हुआ है। इन तीनों की अनुपस्थिति में अपनी पहचान ही खत्म हो जाती है। नई आर्थिक नीति ने देश के संपूर्ण आदिवासियों की पहचान को ही मिटा दिया। यह उनके सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक संकट का कारण बन गया। रमणिका गुप्ता ने इस पर ज़ोर देकर यों कहा था, 'आदिवासियों की अस्मिता के प्रश्न उनके जंगल, ज़मीन, जल और प्राकृतिक संसाधनों के अधिकारों से जुड़े हैं और इनके अस्तित्व के लिए अत्यंत ही महत्वपूर्ण हैं, उनकी भाषा, संस्कृति, सामूहिक जीवन, शैली, परंपरा, रीति-रिवाज़ और उनकी अपनी स्तरीय जनतांत्रिक न्याय व्यवस्था।"[1]

आदिवासी समाज की माँगें सामूहिक होती है। वह विकास विरोधी नहीं है। लेकिन विकास उस तरीके से किया जाना चाहिए जो उनके जीवन और प्रकृति के अनुकूल हो। विकास के नाम पर आज पहाड़ों को काटा जा रहा है। जंगलों को उजाड़ा जा रहा है। बड़े-बड़े बाँध बनाये जा रहे हैं। कहीं खनन कार्य किया जा रहा है। याने कि हर तरफ से आदिवासी समाज को जंगलों, नदियों, पहाड़ों से घिरे अपने परिवेश से बेदखल करनेवाले विकास ज़ारी हैं।

आदिवासी सामूहिक ज़िन्दगी जीता है। वह व्यक्तिवादी नहीं है। वे सहयोगपूर्वक जीना चाहते हैं। रमणिका गुप्ता कहती है कि हमें उनसे बहुत कुछ सीखनी है, 'प्रकृति के साथ जीना सीखना है, मनुष्य के साथ मिलकर

1. दीपक कुमार देवेन्द्र - हाशिए का वृत्तांत, पृ. 354

भाईचारे से जीना सीखना है। हमें उनसे सीखनी है - मनुष्य की अभिव्यक्ति की आज़ादी, बराबरी की भावना और बेफिक्र होकर जीना। हमें सीखना है संपत्ति का संग्रहण न करना, धन न जुटाने की आदत अपनाना। दूसरों के लिए समाज के लिए जीने का सूत्र जानना है उनसे। ये सारे मूल्य उनमें हैं, जिन्हें हम अपनी व्यक्तिवादी संकीर्ण संस्कृति से नष्ट कर रहे हैं।"[1]

वर्तमान समय में सबसे उपेक्षित तबका आदिवासी है। आज वह अस्मिता और अस्तित्व की दोहरी चुनौतियों से जूझ रही है। विकास के नाम पर होनेवाले हस्तक्षेपों के कारण आदिवासी इलाकों में भी उनका टिकना मुश्किल हो रहा है, 'जन संख्या के हिसाब से लगभग 8.08 प्रतिशत लोगों को जनजाति के वर्ग के रूप में वर्गीकृत किया गया है। जिनमें से लगभग नब्बे प्रतिशत आदिवासी अपनी जीविका केलिए कृषि पर निर्भर हैं। इसके अलावा शिकार वनोपज जमा करना भी उनके जीवन का मूल आधार है।"[2] जैसे-जैसे आदिवासियों से उनके वन और पूर्वजों की ज़मीन छीनी जा रही है वैसे वैसे उनके आधारभूत कार्यकलापों में कमी आती रही। औद्योगीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन के रूप में सरकार ने आदिवासी क्षेत्र का चयन किया। क्योंकि इनकी भूमि में सभी प्रकार के प्राकृतिक संसाधनों की लभ्यता है। जिन नदियों और ज़मीनों पर उनका मुक्त संचार था आज वह अवरुद्ध हो रहा है। उस पर उनका कोई अधिकार नहीं है।

---

1. सं. उषा कीर्ति राणावत - आदिवासी केन्द्रित हिन्दी साहित्य, पृ. 32
2. डॉ. शेख शहेनाज बेगम अहेमद - आदिवासी साहित्य स्वरूप एवं विश्लेषण, पृ. 178

मानव समाज का विकास के पथ पर है। लेकिन आदिवासी समाज में विकास के नामो निशान भी नहीं है। उन्हें याचक बनाकर जंगल से विस्थापित कर दिया जा रहा है। देश के आदिवासियों की समस्याओं को मोटे तौर पर दो भागों में विभाजित किया जा सकता है सामाजिक और आर्थिक। आदिवासी समाज में शिक्षा का आविर्भाव बहुत देर से ही हुई थी। शिक्षा किसी भी समाज केलिए सृजनात्मक एवं उत्प्रेरक तत्व है। शिक्षा की कमी के कारण कोई भी समाज अंधकार में टटोलने केलिए अभिशप्त बन जाता है।

2.3 आदिवासी समाज और आर्थिक पक्ष

जंगल आदिवासी समाज का एक मात्र सफल धरोहर है। वनों की सुरक्षा से इनकी अर्थ व्यवस्था को गति मिलती है। लेकिन आज देश में खनन, उत्खनन और औद्योगिक विकास केलिए जंगलों को उजाडा जा रहा है। इससे आदिवासियों की अर्थव्यवस्था का ह्रास हुई और वे शहरों की तरफ पलायन करने केलिए विवश हो गए। उनके पारिवारिक जीवन में कलह, अस्वास्थ्य, गरीबी तथा कुपोषण का ताण्डव होने लगा।

आदिवासियों के आर्थिक विकास के लिए सरकार ने अनेक विकास योजनाएँ लागू भी की हैं। परंतु उन्हें इन विकास योजनाओं का सीधा लाभ प्राप्त नहीं होता। आर्थिक स्तर को सुदृढ़ बनाने केलिए सरकार ने अनेक

उद्योग धन्धों लगाये हैं। सरकारी नौकरियों में आरक्षण प्रदान किया। लेकिन इन सबके बावजूद भ्रष्ट शासन व्यवस्था और नियमों के कारण आदिवासी इन लाभों से वंचित रहते हैं। देश के सभी क्षेत्रों में विकास होने के बावजूद देश के आदिवासी लोग अर्थोपार्जन के लिए उतना ही संघर्ष करते हैं जितना कि वे पहले करते थे।

भारत सरकार जनजातीय समाज की आर्थिक समस्याओं को हल करने केलिए विविध योजनाओं का संचालन कर रही है। इन योजनाओं के अन्तर्गत शिक्षा, गृहोद्योग, कृषि, पुनर्वास, जंगल-संरक्षण, पशुविभाग, कम्युनिटी सेन्टर, गैर सरकारी संस्थाओं की सहायता आदि करती आ रही है। लेकिन इन सारे योजनाओं का फल आदिवासियों तक पहुँचता नहीं बीच में ही वे सब हटप लिया जा रहा है। मोटे तौर पर सामाजिक और आर्थिक समस्याओं से जूझनेवाले आदिवासी समाज की समस्याओं को समकालीन आदिवासी साहित्य में देख सकते हैं। आदिवासी समाज के विकास केलिए यह ज़रूरी है कि वह अपनी समझ और संवेदना को सही परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करें। एक ओर प्रगति विरोधी परंपराएँ हैं, तो दूसरी ओर अति आधुनिकता का विकृत प्रभाव। इन दोनों के बीच का आत्मसंघर्ष आदिवासी समाज में सब कहीं है। आदिम संस्कार के साथ पली-बढ़ी जीवन शैली एक ओर है तो दूसरी ओर विकास की रफ्तार में सब कुछ खो कर आगे बढ़ने केलिए विवश युवापीढि।

इस प्रकार अपने अस्तित्व पर होनेवाले खतरों को समकालीन आदिवासी उपन्यासकार कैसे रेखांकित करते हैं यह देखना महत्वपूर्ण है।

मनमोहन पाठक द्वारा लिखा गया उपन्यास है 'गगन घटा घहरानी'। उपन्यास की प्रेरणा भूमि पलामू और उसके आस-पास के वे तमाम क्षेत्र हैं जहाँ आदिवासी लोग, ग्रामीण लोग या सदान भी है। सामंती अवशेषों के लक्षणों से युक्त ठेकेदार की गिरफ्त में है यहाँ की 'उरांव' आदिवासी और सदान भी। उपन्यास के लेखक मनमोहन पाठक भूमिका में लिखते हैं - "मेरे इस उपन्यास की प्रेरणा भूमि पलमू और उसके आस-पास के वे तमाम क्षेत्र हैं जहाँ एक लंबे समय से आज़ादी की लड़ाई चल रही है। इस लड़ाई का इतिहास मुगलकाल से आरंभ होकर ब्रिटिश गुलामी को पार करता हुआ भारत की 45 साल की स्वतंत्रता तक खिंचा चला आया है।"[1]

जल, जंगल और ज़मीन केलिए आदिवासी समाज किस तरह से संघर्ष करते हैं इसको बखूबी उपन्यास में बताया गया है। जंगलों में रहने वाले और जंगल से ही जीवन यापन की सुविधाएं जुटाने वाले आदिवासियों को जब जंगल से वंचित करने की कोशिश हुई तो उनके समने बड़ी ही भयंकर स्थिति उत्पन्न हुई। खेती करनेवाले थोड़ी बहुत ज़मीन भी वह साहूकार या रायबहादूर जगधारी राय जैसे जमींदारों के कब्जे में जा चुकी थी। बढ़ते कर्ज से छुटकारा पाने के लिए वे जी तोड़ परिश्रम करते हैं लेकिन

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 5

पीढ़ियाँ बीत जाने के बाद भी कर्ज चुका नहीं पाते। इसके साथ शोषण भी बढ़ता जाता। शोषण का भीषण रूप यह है कि कर्ज के ऐवज में मज़दूर और दास की ज़िन्दगी बिताने वाला उरांव आदिवासी 'जागो' बीमार पड़ जाने के कारण समय से मालिक की सेवा में नहीं पहुँचता तो जबरदस्ती मारपीट कर, बंधवा कर 'चीते' के अहाते में सामंत जगधरी राय ने डलवा दिया। उपन्यास में ठाकुर की हवेली से जागो को छुटकारा पाना बिलकुल असंभव था। वह अपने आप को कोसता है और याद करता हैं कि 'बलि को जाता हुआ बकरा भी मिंमियाता है पर मेरे मूँह से तो एक बकार नहीं फूटा। उस समय मेरे मूँह से तो एक बकार नहीं फूटा। उस समय मेरे पास बोलने को भी क्या था? देह तो मैं पहले भी हार चुका था। सत्तर रुपया और दू मन गोंदली पर। मेरी देह पर उधार बाकी जो कुछ था वही तो उतार ररे थे वे लोग। काल के मूँह में डालकर, भड़ास से दरवाज़ा बन्द कर दिया। काहे.?...।"[1] यहाँ आर्थिक विपन्नता के कारण पूरी ज़िन्दगी गुलम का जीवन जीने केलिए अभिशप्त आदिवासी लोगों की हालत का चित्र देख सकते हैं।

वीरेन्द्र जैन का 'डूब' उपन्यास में लड़ैई आदिवासी गाँव का चित्रण किया गया है, जहाँ आदिवासियों की ज़मीन पर बांध बनाया गया है। जिससे राउत तथा खेरे जिरोम गोत्र के कई आदिवासी विस्थापित हो चुके हैं। इसी बांध के टूटने से आस-पास के कई गाँवों का जीवन प्रभावित होता है।

---

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 72

उपन्यास की कथावस्तु प्रमुख रूप से डूब की समस्या है इसके साथ ही साथ आदिवासी जीवन के कई सामाजिक-आर्थिक और राजनैतिक सवाल भी प्रस्तुत है।

वीरेन्द्र जैन का उपन्यास 'पार' में बुन्देलखण्ड अँचल के आदिवासी जीवन को वरीयता देते हुए ज़मीन, जंगल और शिक्षा से वंचित आदिवासियों के संघर्ष की कथा प्रस्तुत की गयी है। 'पार' में 'डूब' के आगे की कथा है। 'पार' में आदिवासी राउतों पर होने वाले शोषण की कहानी है।

बाँध के निर्माण के लिए ली गई ज़मीन ज़्यादातर खेती थी। इसका बहुत बुरा असर आदिवासी जन जीवन पर पड़ा। गाँव गरीबी और बेगारी का शिकार हो गया। "साहूकार से बीज उधार लेकर बोना, उस पर हाड़तोड़ मेहनत करना फिर भाग्य और भगवान के भरोसे से वर्षा रानी का इंतज़ार या फिर सूखा न पड़े। इसके लिए नदी और वामन महाराज को चढ़ावा चढ़ाना।"[1] बाँध परियोजना के कारण यह सब टूट जाता है। लोगों को अपनी ज़मीन, खेत छोड़ना पड़ा। गाँव उजड़ने लगे। उनकी आजीविका खत्म होती है। गाँव की पूरी आर्थिक स्थिति बिगड़ने लगी।

तेजिन्दर कृत 'काला पादरी' उपन्यास मध्यप्रदेश के गहन आदिवासी क्षेत्रों में, जंगल के आस-पास जीने वाले आदिवासी जीनव का संवेदशील और सूक्ष्मता से परिपूर्ण कहानी है। उपन्यास में धर्मान्तरण, राजनीतिक,

1. वीरेन्द्र जैन - डूब, पृ. 24

आर्थिक व्यवस्था के साथ-साथ आदिवासियों की दयनीय स्थिति को अत्यन्त यथार्थ व जीवन्त रूप में प्रस्तुत किया गया है।

भूख से तड़पते आदिवासियों की स्थिति को उपन्यास में इस प्रकार प्रस्तुत किया है 'साहब रात में बच्चा मर गया। उसकी माँ ने कई दिनों से कुछ खाया नहीं था। उसको गोद में लेकर उसकी माँ भी मर गयी। उसने भी कई दिनों से कुछ नहीं खाया था, आदिवासी पिछले कई दिनों से जहरीली जंगली बूटियाँ खा रहे हैं और जिले के भीतरी इलाकों में तो कुछ लोग अपनी भूख मिटाने केलिए बिल्लियाँ और बंदरों का शिकार कर, उनका माँस तक खा रहे है।"[1] आर्थिक अभाव में कष्ट भोगने वाले लोगों की सबसे दयनीय हालत यहाँ देखने को मिलती है।

संजीव कृत 'जंगल जहाँ शुरु होता है' में थारु आदिवासी के जीवन-संघर्ष के यथार्थ को उजागर करता है। इसमें पश्चिमी चंपारण के बेतिया अंचल की थारु जनजाति का समाज, जीवन पद्धति, संस्कृति, डाकू, पुलिस राजनीतिज्ञ एवं प्रशासन के भी यथार्थ का समावेश हुआ है। 'थारू' आदिवासी लोग जंगलों में अभावग्रस्त ज़िन्दगी बिताने केलिए अभिशप्त है। एक ओर तो वे ज़मीन्दारों के अत्याचार से पीड़ित हैं तो दूसरी ओर डाकुओं के उत्पीड़न से। उपन्यास में 'बिसराम' की खेती को ज़मीन्दारों ने हड़प लिया

1. तेजिन्दर - काला पादरी, पृ. 21

तो दूसरी ओर मलिकार ने उसके भैंस को। भरपेट भोजन केलिए उसके परिवार तरसता रहता था। बेटी के अंतिम संस्कार को भी ठीक तरह से करने केलिए उनके पास पैसा नहीं था। बिसराम की दयनीय स्थिति उपन्यास में यों चित्रित है, 'पहले चीनी मिलें बंद हुई, फिर खेत बंधक हुए, भैंस गई, मेहरारु मरन-सेज पर और बेटी को साँप ने डँसा।"[1]

राकेश कुमार सिंह का 'पठार पर कोहरा' में झारखंड में रहनेवाली आदिवासीयों के शोषण की कथा है। अंग्रेज़ों के भारत छोड़ने के बाद झारखंड के जंगलों में एक नयी शोषक संस्कृति का उदय हुआ। अंग्रेज़ों ने अपने शासन के समय झारखंड के मूल निवासियों की जल-जंगल-ज़मीन के पारस्परिक अधिकारों को छीनकर उन्हें इन सभी से बेदखल कर दिया था। आज़ादी के कई वर्षों बाद आदिवासियों की समस्याओं और प्रश्नों की स्थितियों में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। उपन्यास में द्रष्टव्य है 'आज़ादी के बाद आदिवासियों के कल्याण की सैकड़ों योजनाएँ बनी हैं पर उनके क्रियान्वयन का क्या हुआ? आबंटित राशी का दस प्रतिशत भी देश के आदिवासियों तक नहीं पहुँच रहा । कई योजनाएँ कागज़ पर चलती रहती हैं। कई योजनाएँ तो फाइलों की कब्र में ही दफन हो गयी, यदि अफसरशाही और राजनीति का यही तालमेल कायम रहा तो पता नहीं कितने समय तक आदिवासी समाज इसी तरह अनपढ़, असंस्कृत, भूखा नंगा, शोषित, उपेक्षित

---

1. संजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 82

और लोकतंत्र के ज्ञान एवं विज्ञान से कटा-कटा रहेगा।"[1]

मधुकर सिंह का 'बाजत अनहद ढ़ोल' उपन्यास भी झारखंड के संथाल आदिवासियों के अंग्रेज़ साम्राज्य के खिलाफ किए गए संग्राम की पृष्ठभूमि पर लिखा गया है। इसमें संथाल धूल के नायक सिद्धो, कान्हो, चाँद, भैरो का जनांदोलन है।

'धूणी तपे तीर' हरिराम मीणा द्वारा दक्षिणी राजस्थान के भील आदिवासियों के जीवन को आधार बनाकर लिखा गया ऐतिहासिक उपन्यास है। गोविन्द गुरु के नेतृत्व में आदिवासी भीलों ने अंग्रेज़ी एवं देशी सामंती शासकों के विरुद्ध एक लंबी लड़ाई लड़ते हुए मातृभूमि की स्वाधीनता के लिए अपने प्राणों की आहुति दी। परंतु इस सदादत का जिसमें 1500 से अधिक आदिवासियों ने प्राण बलिदान दिए पर ऐतिहासिक ग्रंथों में इसका उल्लेख तक नहीं किया गया।

इस उपन्यास में दक्षिणी राजस्थान के आदिवासियों पर देशी रियासतों के शासक और फिरंगियों के द्वारा किए जानेवाले अत्याचार, दमनचक्र, शोषण, उत्पीड़न, अभाव, गरीबी, भूखमरी, महामारी से त्रस्त जीवन का भी सजीव चित्रण है। आदिवासी अंचल में भीषण अकाल में त्रस्त लोगों की दयनीय दशा का अनदेखा करने वाले देश के राजा, अंग्रेज़ लोगों के साथ मिलकर आदिवासी इलाकों में अनेक प्रकार की अमानवीय 'यह वह दौर था जब ब्रिटीश सरकार नये-नये कानून का फायदे बनाकर अपने हस्तक्षेप की

---

1. राकेश कुमार सिंह - पठार पर कोहरा, पृ. 137

रणनीति तैयार किए जा रही थी। वनोपज पर पाबंदी, बंदोबस्त व कृषि 'कर' में वृद्धि, अबकारी नीति, नमक से स्वतंत्र उत्पाद व व्यापार पर नियंत्रण आदि ऐसे मामले थे जिनका आदिवासी जन विरोध किए जा रहे थे।"[1] यहाँ आर्थिक शोषण के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले आदिवासी लोगों का यथार्थ चित्रित है।

उपर्युक्त उपन्यासों के अलावा संजीव का 'धार' 'पाँव तले की दूब', 'सावधान! नीचे आग है', मैत्रेयी पुष्पा की 'अल्माकबूतरी', रणेन्द्र का 'ग्लोबल गाँव के देवता', 'गायब होता देश', महुआ माजी का 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, विनोद कुमार का 'रेड जोन', आश्विनी कुमार पंकज का 'माटी माटी अरकाटी', सुभाष पंत का 'पहाड़ चोर' निलय उपाध्याय का 'पहाड', विनोद कुमार का 'समर शेष है' राकेश कुमार सिंह का 'जहां खिले है रक्त पलाश' आदि कई उपन्यासों में आदिवासी जीवना के विभिन्न आर्थिक विपन्नता को प्रस्तुत किया गया है।

2.3.1 जंग्ल पर आश्रित जीवन

आदिवासी समाज का आश्रय 'जंगल' ही है। पर बाहरी हस्तक्षेप के कारण जंगल और उसके संसाधनों से वे वंचित हो रहे हैं। 'समर शेष है' उन्पायास में जंगल पर आश्रित जीवन जीनेवाले इन लोगों को कैसे दहस-नहस कर दिया गया इसका वास्तविक चित्रण देख सकते है 'पहले गाँव में इक्का-दुक्का लोग ही बाहर काम की तलाश में जाते थे। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से धनकटनी के बाद बड़ी संख्या में लोग काम करने बाहर जाने लगे हैं।

1. हरिराम मीणा - धूणीतपे तीर, पृ. 42

गाँव के जीवन-यापन के संसाधन सिमटते जा रहे हैं। पहले परिवार में सदस्यों की संख्या बढ़ी तो जंगल काटकर नई ज़मीन बना ली जाती थी। लेकिन अब जंगल उनका नहीं रहा। ठेकेदार चाहे जंगल का जितना भी दोहन कर ले, लेकिन आदिवासी यदि अपनी ज़रूरत केलिए जंगल साफ करना चाहे तो वन विभाग के सुरक्षा गार्ड पकड़ लेते हैं। चालान कर जेल भेज देते हैं।"[1]

'पहाड़' नामक उपन्यास में जंगल के प्रति उनका लगाव 'जितिया बाबा के कथन से स्पष्ट हो जाता है, 'जंगल हमारा घर था। जंगल में हमारे देवता थे। जैसे खेत में हमारे देवता थे। जैसे खेत में मकई के संग मोथा निकल आता है वैसे ही जंगल में बरसात के बाद कई पेड़ निकल आते हैं और बड़े पेड़ों की खुराक खा जाते हैं। हम उनको साफ करते थे ताकि पेड़ बड़े हों। सूखे पेड इसलिए काटते थे कि नए पेड़ों के लिए जगह बने। पेड़ की बनराई डालो को इसलिए काटते थे कि तना मज़बूत हो। लकड़हारा जंगल का हत्यारा होता है, हम रखवार होते थे।"[2] 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में सारंडा के कराइकेला इलाके के मचुआ गगराई ने अपने गाँवों के आदिवासियों को संगठित करके खेती करने का आग्रह प्रकट करते हुए कहते हैं, "इन जंगलों पर हमारा पारंपरिक अधिकार रहा है। जब बाहरी लोग आकर जंगल साफ करके अपने लाभ के लिए सागवान उगा सकते हैं तो पेड़ काटकर हम क्यों नहीं कर सकते खेती?"[3] यहाँ प्रतिरोध का भाव देख सकते।

1. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 23
2. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 127
3. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 115

वनोपज पर पाबंदी लगाने वाले बाहरी लोगों की अनीति को 'धूणी तपे तीर' में यों चित्रित किया है, 'यह वह दौर था जब ब्रिटिश सरकार नये-नये कानून का फायदे बनाकर अपने हस्तक्षेप की रणनीति तैयार किए जा रही थी। वनोपज पर पाबंदी, बंदोबस्त व कृषि 'कर' में वृद्धि, अबकारी नीति, नमक के स्वतंत्र उत्पाद व व्यापार पर नियंत्रण आदि ऐसे मामले थे जिनका आदिवासी जन विरोध किए जा रहे थे।"[1]

'जंग्ल में हम कुछ समय तो जंग्ली फल-फूल और शिकार पर जिन्दा रहे। फिर जंगल काटकर जहाँ-तहाँ खेत बनाया गया। पहाड़ों से उतरते पानी को बाँधकर बड़े-बड़े तालाब, बाँध बनाए गए। आज अपने चारों तरफ जो खेती लायक ज़मीन तुम देख रहे हो, वह इंच-इंच ज़मीन हमारो पुरखों ने अपने खून-पसीने से सींच-सींचकर बनाई है। इसीलिए हम कहते हैं - यह जंगल और यह ज़मीन हमारी है।"[2]

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में बी जाम्बिरा अपने पूर्वजों द्वारा संपन्न बनाये गये जंगल की यादें यों करते हैं - "चारों तरफ तो ज़मीन ही ज़मीन पड़ी है। पहाड़ी ढलान पर ही सही, पर जितनी चाहे साफ करके खेती लायक बना लेता! इस घने जंगल में अंग्रेज़ सरकार के जंगल विभाग वाले रोज रोज थोड़े ही न आते हैं झोपड़ी या फसल तबाह करके

1. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 42
2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 14

उन्हें उजाड़ने? और फिर अंग्रेज़ी सयोब लोगों का इस जंगल का मालिक बन जाने के बावजूद जब तक जिसे-तिसे पकड़कर सिपाहियों द्वारा खदेड़े जाने या मार पीट किए जाने के बावजूद क्या जंगल से फल मूल, लकड़ी पत्तल लेना, शिकार करना पूरी तरह से बंद कर दिया है आदिवासियों ने?"[1] इसी उपन्यास में ओर एक प्रसंग में अपने अस्तित्व को बचाने के लिए प्रतिरोध करने वाले लोगों का चित्रण मरंग गोडा नीलकंठ हुआ उपन्यास में इस प्रकार हुआ है - "हमारा पूजा स्थल सरना, हमारी मिलन ख्याली... हमारे नाच गान और मनोरंजन की जगह-हमारे नाच गान और मनोरंजन की जगह-अखड़ा, हमारी ससन दिरी-जहां हमारे मृत पुरखों की निशानी के रूप में गड़े हुए खड़े पत्थर हमें हमारे प्रियजनों से जोडे रखते हैं, इन जंगलो के बीच ही तो हैं। जंगल हमारा भगवान है। हमारा बिरबोंगा बुरु बोंगा....।"[2]

2.3.2 परिस्थिति शोषण से उत्पन्न समस्याएँ

पृथ्वी और प्राकृतिक संतुलन का सवाल मारे अस्तित्व से जुड़ा हुआ है। हम कितना भी विकास कर जाएँ, विकास की सीढ़ियाँ चढ़ जाएँ, एक प्राकृतिक आपदा हमारे समूचे अस्तित्व को मिटाकर रखदेगी। जब मनुष्य प्रकृति की सहन शक्ति की सभी सीमाएँ पार करता है, तो वह भी अपने संहार तांडव से पीछे नहीं हटती। इसी सत्य को पहचानकर साहित्यकार पारिस्थितिकी

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 46
2. वही - पृ. 114

के प्रति, पर्यावरण के प्रति, प्रकृति के प्रति सजगता और सतर्कता बरतने लगा। आदिवासी उपन्यासों में भी प्रकृति के प्रति यह सजगता हम देख सकते हैं। क्योंकि जो जन-समूह आज भी प्रकृति के साथ ताल-मेल बनाए रखकर रहते हैं, उनके लिए प्रकृति पर होनेवाले अत्याचार, अपने ही ऊपर होनेवाले अत्याचार से कम नहीं है। प्रकृति पर होनेवाले अत्याचारों का दुष्परिणाम आदिवासियों पर भी हावी होते हैं। इस प्रकार पारिस्थितिक संकट आदिवासी जीवन की त्रासदी बन जाती है।

संजीव का उपन्यास 'सावधान! नीचे आग है' में जिस प्रकार ठेकेदार और पूँजीपति विकास के नाम पर, मुनाफा को लक्ष्य बनाकर प्रकृति का शोषण कर रहे हैं और जिस प्रकार प्राकृतिक शोषण आदिवासी और मज़दूरों के शोषण या संकट में बदल जाते हैं इस तथ्य को संवेदना के साथ प्रस्तुत करता है। अवैद्य कोयला खनन ने पूरे चंदनपूर की काया को ही पलट दिया है। जब आशीष और ऊधम सिंह पहली बा चंदनपूर आया तो उन्हें झुरझुरी आ गई थी। झुरझुरी का कारण उपन्यास में इस प्रकार मिलता है - 'कुहासा नहीं, थुआंसा के जाल में उलझा तारों की झिलमिलाहट लिए जल रही है दूर-दूर की बत्तियाँ।"[1] इस प्रकार चंदनपूर जैसी हरियाली जगह 'काले रेंगिस्तान' में परिणामित हो गया है।

1. संजीव - सावधान, नीचे आग है, पृ. 12

आदिवासी लोग मुख्यतः जंगलों पर ही सीमित रहता है। इसलिए प्राकृतिक आपदाएं उनके जीवन की त्रासदियाँ हैं। ओले से हुए फसल की बर्बादी ने आदिवासी लोगों को कैसे दूख पहुँचाती है इसका चित्रण 'धूणी तपे तीर' में इस प्रकार हैं 'गाँव के आदिवासी खेतों में ओलों की बरसात से चौपट हुई फसलों को देख-देखकर माथा पीट रहे थे। फसल नष्ट होने की गमी किसी प्रियजन की मौत से बड़ी पीड़ थी उनके लिए।"[1] यहाँ प्रकृति और आदिवासी जीवन कितना मिलजुलाकर है इसका स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं।

प्रकृति और प्राकृतिक संपदाओं के साथ मिलजुलकर जीने वाले आदिवासी लोगो की माँग प्रकृति की रक्षा है। मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में 'हम कागज़ कलम की भाषा नहीं जानते। जंगल के बीच, जहाँ जहाँ हमारे गाँव थे, वहाँ वहाँ ससनदिरी (कब्र) में हमारे पुरखों की निशानी के रूप में गाड़े गए ख़ड़े पत्थर ही हमारे पट्टे हैं। उजड़े हुए गाँवों की निशानी, अखड़ा, सरना स्थल और खेतों के अवशेष ही हमारे पट्टे हैं। धने जंगल के बीच वर्षों पहले अपनी अपनी झोंपड़ियों के आसपास हमारे पुरकों द्वारा यत्नपूर्वक लगाये गये इमली, आम, करंज, कुसुम, महुआ, आदि के पेड़ ही हमारे पट्टे हैं। हमें हमारी ज़मीन वापस चाहिए।"[2] यहाँ प्रकृति और प्राकृतिक संपदाओं के बचाने भाव देख सकते है। प्रकृति के बिना अपनी अस्तित्व ही नहीं है यह

1. हरिराम मीणा - धूणातपे तीर, पृ. 18
2. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 116

ज्ञान इसमें निहित है। इसलिए प्रकृति का दोहन इन केलिए असंभव है। पीटर पल एक्का का उपन्यास 'जंगल के गीत' में इसका मिसाल हैं उपन्यास में ऐसे ही एक सामूहिक शिकार पर्व 'फग्गू सेंद्रा' का चित्रण देखने को मिलता है 'मुर्गी की बलि पहान ने आखेट देवता को चढाई, तो तुंबा टोली के युवक करमा के नेतृत्व में 'पग्गू सेंद्रा' के लिए निकल पड़े थे। अच्छा शिकार मिल जाए तो दो चार दिनों का अच्छा गुज़ारा हो जाएगा।"[1] याने कि आदिवासी समाज प्रकृति से उतना ही ग्रहण करते हैं, जितने की आवश्यकता होती है और वह भी सामूहिक रूप से। चाहे वह शिकार का हो या फिर वनोपज का।

2.4 बाहरी हस्तक्षेप से उत्पन्न समस्याएँ

आदिवासी समाज के निरीक्षण से यह पता चलता है कि महाभारत काल से लेकर आज तक बाहर के लोग आदिवासियों के जीवन में हस्तक्षेप करते रहे हैं। आदिवासियों की अशिक्षा, सीधापन, भावुकता, आदि का बाहर के लोग समय-समय पर फायदा उठाते रहे हैं।

'समर शेष है' उपन्यास का बाबा अपने ऊपर होनेवाले शोषण को 'सोबरन' से यों कहते हैं, 'इन लोगों ने कैसे-कैसे अत्याचार और अनाचार किए इसकी आज तुम कल्पना भी नहीं कर सकते। ज़मीन हमारी लेकिन वे हमसे मनमाना 'कर' माँगते, हमसे 'बेगार' करवाते और विरोध करने पर मारते-पीटते। हमारी बहु-बेटियों को उठाले जाना रोज़ की बात थी। यहाँ

1. पीटल पॉल एक्का - जंगल के गीत, पृ. 181

तक कि हम अपने खेत में खड़े पेड़ का फूल भी उनकी इजाजत के बगैर नहीं तोड़ सकते थे। अंग्रेज़ों के आने के बाद कई तरह के कानून बने कोर्ट-कचहरी, उनके कारिन्दे, ज़मीन्दारों की ही मदद करते।"[1]

'पहाड़' नामक उपन्यास में बाहरी लोगों की हस्तक्षेप से सब कुछ नष्ट होनेवाले आदिवासी लोगों की दशा देख सकते हैं - 'गलहौर गांव में सबसे हाशिए पर बने एक घर में जन्म लिया था दशरथ ने। उस समय वहाँ के समाज में माँझी के लिए मज़दूरी के सिवा कोई काम नहीं था। अब तो जवरावाली यजमानी पद्धति ही खत्म हो गई। मालिक और परजा के बीच सारे संबंध ही खत्म हो गए। न बैल बचे, न हलवाई, न चरवाहे। न कुम्हार, न बढ़ई, न लोहार। सारी जातियाँ अपने पारंपरिक पेशे से अलग हो गईं और अब रोजी-रोटी की तलाश में शहरों की ओर भाग रही हैं। जिन सवालों के जवाब दशरथ को बेचैन करते थे, उनका कोई हल, कोई समाधान नहीं निकला। वे सारे सवाल ही सिरे से खत्म हो गए। और अब तो यह गांव ही जंगल की तरह करने लगा है। आज जो गलहौर में रहते हैं -चाहे किसी भी वर्ग और वर्ण के हों, उनकी हालत तब के माँझी जैसी ही है।"[2]

विकास के नाम पर होनेवाले खोखलापन को राकेश कुमार सिंह ने 'पठार पर कोहरा' नामक उपन्यास में प्रस्तुत करते हैं - "झाड़-झंखाड़ से भरे इस भूखंड झारखंड में अधिकांश रेल-पथ या सड़कें आम जनता की

1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 15
2. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 284

सुविधा-असुविधा को ध्यान में रखकर बनी भी नहीं हैं। असल में यातायात के लिए ऐसी सड़कें निर्मित ही नहीं होती यदि झारखंड की जादुई ज़मीन के गर्भ में अकूत संपदा और ज़मीन के ऊपर धन ही धन न बिखरा होता-खनिज अयस्क, कोयला और बेशकीमती वनोपज के रूप में। इस वन प्रांतर में रेल और सड़कें जंगल के मरणांतक दोहन के उन्हीं उद्देश्यों हेतु निर्मित हुआ हैं जिन उद्देश्यों की बलि चढ़ते रहे हैं कई और अन्य वन।"[1]

'पहाड' उपन्यास में भी बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से बर्बाद आदिवासी जीवन पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। 'जितिया' बाबा दशरथ से कहते हैं, 'दीकुओं से हमारे बाबू चाचा लोग बहुत डरते थे। कहते थे कि गाँव में रहने जाओगे तो दिकू ले जाकर दखिन में बसाएगा सेवा करवाएगा बीवी-बच्चों पर बुरा नज़र डालेग। हमारा हाल अब के जैसे नहीं था। माँझी और बाघ जंगल के राजा होते थे। गाँव में आने के बाद सब खत्म हो गया।"[2]

2.4.1 अशिक्षा

अशिक्षा किसी भी समाज के लिए अभिशाप ही है। आदिवासी समाज की अपनी सारी समस्याओं का मूल कारण अशिक्षा ही है। अंधविश्वास, बेरोज़गारी शोषण जैसी समस्याओं का मूल कारण भी शिक्षा की कमी है। आज़ादी के पैंसठ वर्षों के बाद भी भारत की संपूर्ण जनता साक्षर नहीं हो पायी। आदिवासियों में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए सरकारी योजनाएँ तो

1. राकेश कुमार सिंह - पठार पर कोहरा, पृ. 87
2. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 127

बहुत हो रही है। लेकिन उनकी अपनी मातृभाषा में प्रारंभिक शिक्षा न होने के कारण मुख्यधारा समाज की भाषा को समझने में वे सर्वथा असमर्थ हैं। आदिवासी लोग जंगलों में ही रहते है। मुख्यधारा समाज से याने कि बाह्य समाज से उनका कोई विशेष संबंध भी नहीं है। इस संदर्भ में आवश्यक है कि आदिवासियों को उसी भाषा में शिक्षा दी जानी चाहिए दिसे वे समझ सकें।

आदिवासी समाज को अन्य समाज के साथ मिलाने केलिए आवश्यक एक तत्व है 'शिक्षा'। इसके बारे में डॉ. गोविन्द गारे ने कहा है, 'किसी भी पिछड़े समाज का अगर विकास होना हो विशाल समाज में उसे एकरूप, एकात्म होना हो तो पहले उस समाज में शिक्षा का प्रसार होना चाहिए। इसलिए आदिवासियों के सुधार तथा परिवर्तन के लिए शिक्षा का प्रसार बढ़ाना होगा। शिक्षा से उनकी दृष्टि व्यापक और विशाल होगी। आसपास के समाज का सम्यक ज्ञान उन्हें सहज प्राप्त होगा तथा सामाजिक घटकों में वाँछित प्रतियोगिता और महत्वाकांक्षा निर्मित होने से आदिवासी समाज में स्वत्व का अहसास पैदा होगा, जिससे अस्मिता का अंकुर फूटेगा।"[1]

शिक्षा का अभाव उनके विकास में बाधा बन रहा है। आज के आदिवासी उपन्यासों में शिक्षा की कमी के कारण उठनेवाली समस्याओं का चित्रण देख सकते हैं। शिक्षा के महत्व के उल्लेख करने का प्रयास रचनाकारों ने किया है। हरिराम मीणा ने 'धूणी तपे तीर' में आदिवासी महापुरुष गोविंद

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी विकास से विस्थापन, पृ. 33

गुरु के माध्यम से शिक्षा के महत्व को रेखांकित किया है - "पढाई लिखाई के महत्व को समझो। मैं स्कूल में नहीं पढ़ा, लेकिन इधर-उधर से आखर ज्ञान सीख लिया। तुम भी सीखो। बच्चों को पढ़ाओं। तभी वे समझदार बनेगे। गाँव-गाँव में जो भी थोड़ा-पढ़ा-लिखा हो उसका धर्म है कि अन्य लोगों को पढ़ायें। पढ़ाई घर के वातावरण से होती है, इसलिए बडे आदमी भी शिक्षा प्राप्त करो। राजा, जागीरदार हाकिम की बेगार मत करो। इनमें से किसी का भी अन्याय मत सहो।"[1]

आदिवासी अज्ञान, अशिक्षा के कारण अत्यंत पिछड़े हुए हं। आज़ादी के पश्चात् भी ये लोग अपने अधिकारों के प्रति सचेत नहीं है। 'जंगल के आसपास' उपन्यास में रायसाहेब और ओझा के आतंक और अन्याय के कारण वहाँ के लोगों में जड़ता और दब्बू मानसिकता उत्पन्न होना और इसके कारण वे अपने बहू-बेटियों की इज्जत अपनी आँखों के सामने लूटते देखकर भी चुपचाप रहते हैं। अपनी समस्याएँ एवं अधिकारों पर संगठित होकर बातचीत करने की इच्छा भी इन लोगों में नहीं है। इन लोगों की आर्थिक समाजिक स्थिति देखकर लेखक चिंता व्यक्त करता है - "जब धरती के अधिकांश हिस्से नई रोशनी से पूरी तरह वंचित है तो इमसान का चंन्द्रलोक तक पहुँचकर के एक नए युग में प्रवेश करने का दावा कहाँ तक उचित है? क्या तराजू के एक पलड़े का आसमान छू जाना और दूसरे का पाताल में धंस जाना ही मानवीय सभ्यता के विकास या उत्कर्ष की निशानी है? नहीं, यह विकास नहीं, विकास का भोंडा नाटक है।"[2]

---

1. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 70
2. राकेश वत्स - जंगल के आस पास, पृ 86

'ग्लोबल गाँव के देवता' में आदिवासी बच्चों की पाठशालाओं को दयनीय स्थिति को यों दर्शाया गया है, "आधी अधूरी बिल्डिंग जैसे-तैसे बना हास्टल, मुर्गीखानों जैसा शिक्षक आवास। जहाँ साफ-सफाई होनी चाहिए नहीं सबसे ज़्यादा गंदगी। इन आदिवासी स्कूलों में कभी झाड़ू-पोंछा नहीं लगता। इन स्कूलों की देख रेख केलिए कोई तैयार नहीं पर मेस के खरीदारी केलिए मारामारी। इन सब के विरोध में कोई कुछ कहें तो उन लोगों के मुख से निकलती है 'इन मकई के घट्टा खाने वालों को यहाँ भात-दाल मिल जाता है, वही बहुत है।"[1] आदिवासी जनजीवन की मूल समस्या है अशिक्षा। 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में गजलीठोरी गाँव में संजीव सान्याल मास्चटर बनकर आते हैं। वे देखते हैं कि वहाँ कोई स्कूल नहीं सिर्फ स्कूल का बोर्ड है। लेकिन स्कूल केलिए अनुदान बराबर प्राप्त हो रहा है। शिक्षा विभाग के अधिकारी उसे मिलकर सारा अनुदान खाये जा रहा है। सान्याल ने समझ लिया कि यहाँ जो स्कूल है वो मात्र कागज़ पर चलता है और साहू की दूकान में स्कूल का सारा रेकार्ड रहता है। स्कूल नहीं महाविद्यालों की भी यही स्थिति है। बिहार के एक दो भूतपूर्व मुख्यमंत्रियों के कार्यकाल में कुकुरमुत्तों की भाँति ऐसे महाविद्यालय उगे थे जो शिक्षा क्षेत्र केलिए शर्म की बात थी। लेखक के शब्दों में "इस प्रकार विश्वविद्यालयों के परिसर में ज्ञान, प्रतिभा, योग्यता और मेधा के बदले पैखी, जोड़-तोड़, गुण्डाई और कार्य से अनुपस्थिति रहने की परंपरा स्थापित करनेवाले शिक्षकों की एक दबंग, अयोग्य अकुशल और लम्पट पीढ़ी का आविर्भाव हुआ।"[2]

---

1. रणेन्द्र - ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 20
2. राकेश कुमार - पठार पर कोहरा, पृ. 83

2.4.2 स्त्री शोषण

आदिवासी समाज में स्त्री की अपनी स्वतंत्रता है। मुख्यधारा समाज की अपेक्षा स्त्री को अपने अधिकार को बनाए रखते हुए स्वेच्छा से जीवनयापन करने की स्वतंत्रता है। सभी क्षेत्रों में पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर रहने का अधिकार है। लेकिन बाहरी हस्तक्षेप से आदिवासी समाज में भी स्त्री की दशा बिगडने लगा। अंधविश्वासों के कारण भी स्त्री की दुर्दशा बढ़ने लगी है। ललिता बगेल का कथन इस संदर्भ में उल्लेखनीय है - "आदिवासी समाज की स्त्रियां अन्य समाजों की स्त्रियों की अपेक्षा अधिक सशक्त, आत्मनिर्भर एवं स्वतन्त्र समझी जाती हैं लेकिन इस बात को पूर्णरूपेणा सत्य नहीं माना जा सकता ह। पितृसत्तात्मक विचारदारा की अवधारणा वाले समाज में नारी की स्थिति पुरुष की तुलना में अधिक दयनीय है चाहे वो आदिवासी समाज हो या अन्य कोई समाज।"[1]

आदिवासी समाज में भी पितृसत्तात्मक ताकत के कारण स्त्री को संपत्ति में हक ने देने की तथा विधवा होने पर उसे 'डायन' कहकर अपमानित प्रताड़ित करके उनकी हत्या तक करने की प्रणालियाँ ज़ारी है। 'समरशेष है' में विष्टुसाव नामक पात्र बलराम माँझी की विधवा 'रूपा' की हत्या उसके ही जेठ और जेठ के बेटे से करवाता है। उपन्यास में इसका चित्रण हैं - "पूरे गाँव में इस बात की चर्चा हत्या के दो दिन पहले फैली।

1. ललिता बघेल - आदिवासी समाज और राजनीति में नारी की स्थिति लेखन से, युद्धरत आम आदमी, मार्च 2018, पृ. 68

रूपा का पति कुछ साल पहले एक दुर्घटा में मारा गया था। पाँच छह दिन पहले उसका इकलौत बेटा साँप काटने से मर गया। दुश्मनों ने इस मौके का फायदा उठाया प्रचारित किया कि रूपा 'डाइन' है।"[1]

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में भी युरेनियम खनन से उत्पन्न प्रदूषण से फैलने वाली बीमारियाँ और बच्चों के पैदा होते ही मर जाना आदि की जिम्मेदारी 'सगेन' की 'ताई' के ऊपर सौंपकर उसको बर्बादी करने का षड्यंत्र रचता है। 'आज हम लोगों ने डाइन को पकड़ लिया है। आओ, आओ.. सब लोग आओ और इसको मार डालो... और देखते ही देखते आसपास के काफी लोग वहाँ जमा हो गए। फिर सबने जी भरकर उस पर अपनी भड़ास निकाली। अपने अपने परिवार में हुई मौतों, बीमारियों और शारीरिक विकलांगताओं की भडास। उन्होंने उसका सर मुंडाकर जबरन मानव मल खिलाया और बूरी तरह घायल करके मार ही डालने का उपक्रम कर रहे थे कि देवां ने उन्हें रोका। कहा इसे अभी मत मारो। पहले इससे मृत बच्चों को जिंदा करवा लो इसने उसे मारा है।"[2]

आदिवासी समाज के बाहर काम करने वाली आदिवासी स्त्रियाँ कई प्रकार के शोषणों के शिकार बनती हैं। समर शेष में 'बाहर से आए ठेकेदारों, उनके यहाँ काम करनेवाले मुंशी, ट्रक चालकों आदि का आदिवासी औरतों के प्रति नज़रिया बहुत ही अपमान जनक था। वे मानकर चलते कि

1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 55
2. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 212

आदिवासी स्त्रियाँ सहज सुलभ और भोग्य है। आदिवासी समाज में व्याप्त यौन-स्वच्छंदता और खुलेपन के बारे में उन्होंने न जाने कैसी-कैसी काल्पनिक कहानियाँ सुन रखी थीं और उन्हीं से यह धारणा बना ली थी कि आदिवासी औरतें यौन शुचिता के प्रति अतिशय लापरवाह होती हैं और उन्हें आसानी से बहलाया-फुसलाया जा सकता है।"[1] 'पठार पर कोहरा' उपन्यास में भी आदिवासी स्त्री के प्रति दृष्टिकोण है। आर्थिक विपन्नता से शोषित आदिवासी स्त्रियों को देखकर संजीव को लगता है कि आदिवासी समाज और स्त्रियों के प्रति हमारे सुसंस्कृत समाज का रवैया केवल मनोरंजन मात्र का ही है "कहाँ है इस जंगल में वैसी श्रृंगारयुक्त आदिवासी स्त्रियाँ जिन्हें तैलचित्रों में देखने रहे हैं संजीव। गजलीठोरी की अधिकांश महिलाएँ तो दुःख-दैन्य की तस्वीरें ही हैं।"[2] यहाँ आदिवासी स्त्रियों की सच्चाई प्रस्तुत की गयी है।

'जंगल जहाँ शुरु होता है' में 'थारु' नारियों का शोषण विभिन्न स्तरों पर अनेक वर्गों द्वारा किया जाता है। थारु नारियों की गरीबी, मज़बूरी तथा अकेलेपन का फायदा लोग आसानी से उठाते हैं। 'मलारी' के साथ ठाकूर सेठ, पुलिस, सभी शारीरिक शोषण करते हैं। मलारी को पोलिस टाकुओं से मिली हूई समझकर पकड़ती है। वह अपनी मज़बूरी बताती है - 'हाकिम हमारा कसूर बस इतना है कि गरीब हैं, औरत जात है, जो ही आता है डरा-धमका के जबरदस्ती करे को मगजूर करता है।"[3]

---

1. राकेश कुमार - पठार पर कोहरा, पृ. 154
2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 212
3. संजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 196

आदिवासी स्त्रियाँ स्वावलंबी होती हैं। वे खट-कमाकर अपना और अपने परिवार का भरण पोषण करती हैं। 'समर शेष है' उपन्यास में। 'हमारी औरतें पर्दे में नहीं रहतीं। हमारे साथ खटती हैं उनकी औरतें काम नहीं करतीं। सिर्फ उनका वंश बढ़ाने के लिए हैं।"[1] यहाँ 'सोबरन' का बाबा अपने समाज के स्त्रियों मुख्यधारा समाज के स्त्रियों की तुलना में कितना बेहतर है इसे समझाने का प्रयास किया है।

आदिवासी स्त्रियों ने अपने समाज की अर्थव्यवस्था के लिए केन्द्रिय हैं। वे मज़दूरी, श्रम करना, वनोवज इकट्ठा करना, कृषि उत्पादन में भाग लेने केलिए जहाँ उपलब्ध हैं वहाँ काम करती हैं। एकदम घरेलू काम, बच्चों के लालन-पालन, पशु-पाल के पूरे बोझ को सहन कर रही हैं। लेकिन कभी-कभी बाहरी समाज की साजिशों के कारण 'डाइन' घोषित कर आदिवासी स्त्री को अपने संपत्ति पर हक न मिलाने का बात भी देख सकते है। 'समर शेष है' उपन्यास में बलराम मांझी की विधवा 'रूपा' को पति के संपत्ति में हक ने मिलाने केलिए बाहर से आए 'विष्टू साव' उन्हें 'डाइन' कहकर उन्हें मार डालने की साजिशें करते हैं। उपन्यास में - "रूपा डइन बन गई, यह खबर सोबरन तक भी पहूँचती है। वे चिन्तित हो उठते हैं। ज़रूर यह किसी की साजिश है उसे अपने ही लोगों को अन्ध-विश्वास से बचाना होगा।"[2]

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ नामक उपन्यास में भी डाइन बनने वाली स्त्री की शोषण का चित्रण है। युरेनियम खनन से उत्पन्न प्रदूषण अनेक

1. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 14
2. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 47

बीमारियाँ फैलने के कारण बन गया। लेकिन वहाँ के लोग तो अज्ञात थे। 'सगेन' अपनी ताई को एक ओर बच्चे के जन्म की सूचना पाकर मरंग गोड़ा आता है लेकिन तीन दिन के बाद ही वह नवजात शिशू चल बस। इसका कारण माँ ने यों बताया हैं - "बहुत जोर देने पर माँ ने मूँह खोला- यहाँ के लोगों को पता चल गया हैं कि तुम्हारी ताई ने डाइन विद्या साधन रखी है। इसलिए अब उसके पास जने से डरने लगे हैं लोग।"[1] क्या? सगेन हैरानी से अपनी माँ को देखना रह गया था। हैरान क्यों होता है? वह एक डाइन है। वह खुद अपने बच्चों का कलेजा खा जाती है। वह आगे कहता हैं कि 'मतलब मरंग गोड़ा में हो रही तमाम अजीबोगरीब बीमारियों की जड़ में कहीं न कहीं डाइनों का ही हाथ है। और इन डाइनों की सरगना है तुम्हारी ताई।"[2]

'समर शेष है' नामक उपन्यास में विधवा आदिवासी स्त्री 'रूपा' को कैसे डाइन बनाते हैं इसकी ओर 'सोबरन' अपने मानसिक व्यथा से व्यक्त करते है - "पूरे गाँव में इस बात की चर्चा हत्या के दो दिन पहले पैली। रूपा का पति कुछ साल पहले एक दुर्घटना में मारा गया था। पाँच-छह दिन पहले उसका इकलौता बेटा साँप कटने से मर गया। दुश्मनों ने इन मौके का फायदा उठाया। प्रचारित किया कि रूपा डाइन है। मैं उसे सावधान करने ही यहाँ आया था; लेकिन मेरे पहुँचने के पहले उसकी हत्या को चुकी थी।"[3]

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 123
2. वही - पृ. 124
3. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 47

'धार' उपन्यास में मैना तीस साल की एक भरी-पूरी संथाल युवती है। अपने और अपने समाज के ऊपर होने वाले समस्याओं के प्रति वे सजग है। अपना प्रतिरोध जाहिर करते है। संथालों के राह-रस्म और परंपराओं के प्रति वह पर्याप्त सजग है। तेजाब डालने से हुई पिता की मृत्यू पर वह उसके चुपचाप जलाने के विरुद्ध अड़ जाती है - संताल की कब्र मिलती है। फिर टेंगर की कब्र ही बनती है। डायन उसका कलेजा निकालने आयेगी - ओझा की इस घोषणा पर वह कहती है, 'कलेजा तो चुन-चुन के तुम लोग खाता रक्षा है। पंड़ित... तुमसे बड़ा डायन कोई है?...."[1]

'पहाड चोर' उपन्यास में मोहन बाउ ने 'केसर' के साथ अमानवीय व्यवहार करते हैं तो वह अपनी प्रतिक्रिया यों व्यक्त किया है 'जो औरत की इज्जत नी कर सकता... वो उसे पियार भी नी कर सकता।' तू किया पियर करेगा बाऊ, पियार करनेवाले नाम की तरह औरत को पीछे से नी पकड़ते। वे आँख मिलाकर सामने से बात करते हैं। पियार करनेवाला चोर की तरह ब्यौहार नी करता।"[2] यहाँ अपने ऊपर होनेवाली अमानवीयता पर प्रतिरोध देख सकते हैं। 'धार' उपन्यास में संथाल लोगों के बीच डायन घोषित करने की परंपरा है। मैना की माँ गाँव में तेज़ाब की फैक्टरी बनने पर अपने पति टेंगर से झगड़ा करती है। तेज़ाब के पानी से श्याम की भैंस के मर जाने पर उसकी मौत का कारण मैना की माँ पर छोड दिया जाता है। महेन्दर बाबु जानगुरु नामक ओझा को दो सौ रुपये देकर उसकी माँ को डायन घोषित

1. संजीव - धार, पृ. 70
2. सुभाषपंत - पहाड़ चोर, पृ. 58

करवा लेता है - "ऊ शाल का पत्ता में तेल लगा के मन्तर पढ़ा, बोला मैना का माँ डायन है, उसका चलते - ई ये सब होता। हम तब छोटा था। माँ अलग रएता था। गाँव का सब, घेर लिया सब उसको, बोला तो डायन है। निकाल दो सौ रुपया दो ठो बकरा। माँ घबरा के भागा। सब ऐसे खदेड़ लिया जैसे मानुख जात नई पागल कुतिया हो।"[1] इस प्रकार के अंधविश्वास भी उनकी दुर्गति का एक अहम कारण है। इन भोले-भाले आदिवासी समाजों के लोगों को अंधविश्वास से बाहर निकालने के लिए शिक्षा की उचित व्यवस्था करना एकमात्र उपाय है।

'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में आदिवासी लोग में पुरुष महिलाओं को वेश्या बनाकर धन आर्जित करते हैं, अथवा वेश्यावृत्ति से उनका कमाया हुआ खाते हैं। कबूतरा घुमक्कड़ जाति होती है। उनका मूल व्यवसाय शराब बेचना होता है। शराब बेचना या चोरी करने के जुर्म में पुलिस द्वारा अधिकतर कबूतरा जाति के पुरुषों को अपराधी घोषित किया जाता है। कदमबाई का पति जंगलिया भी इसी प्रकार अपराधी बनकर कदमबाई से दूर जंगल में जाकर बसता है। जंगलिया की अनुपस्थिति में कज्जा मंशाराम माते कदम बाई के रूप पर मोहित होकर धोखे से जंगलिया की हत्या करके कदमबाई के साथ शारीरिक संबंध बनाता है। उस संदर्भ में कदमबाई कहती है - वादे के हिसाब से वह पास आया, वह छाया को देखते ही मदहोश हो गई, गहराई हुई गेहूँ की बालियाँ पेट को गुतगुदा रही थीं, गुनगुनी बांहों ने

1. संजीव - धार, पृ. 39

उसका बटन बाँथ लिया। हाय, सदा घाघरा खुद ही नीचे को सरका दिया। बंद आँखों में अपने ही गोरे बदन की छाया जगमगाई। आँखों पर रखे हाथों की उंगलियों से झांकना चाहती थी कि गर्म सांसों ने होठों पर कब्जा कर लिया। सारे डर-भय को दबाने की खातिर उसने अपने पुरुष को भींच लिया। आनंद लोक में विचरने वाली कदमबाई, दोगुन ताकत से भिड़ को बींच लिया। मिलन की डोर से बंधी स्त्री हर लम्हें नई-से मुद्राएं अपनाने लगीं। अब केवल वह थी, बाकी कोई न था। धरती, धरती न थी। साथ उठती-दबती चादर। आसमान, आसमान न था। तारों का झमकता झूलना...।"[1]

मुख्यधारा समाज के लोग स्त्री को एक ऐसी परिभाषा में बाँधने की कोशिश करते हैं कि वह जीने केलिए कठिन परिश्रम करती, देस-परदेस जाती है, सेवा करती है, स्वयं को नहीं, दूसरों को प्रसन्न रखने केलिए। लेकिन आदिवासी स्त्री दूसरों को प्रसन्न रखने की बजाय बराबरी की बात करती हुई दिखती है। डॉ केरकेट्टा' इस संदर्भ में हमें बताती हैं, "जब आदिवासी समाज में गोत्र का बँटवारा हुआ, तब परिवार की अवधारणा बन चुकी थी और परिवार में स्त्री पत्नी होने के साथ-साथ सहयोगिनी भी होती थी। वह अपने विचार पारिवारिक मामलों में व्यक्त कर सकती थी। जैसे एक कथा में पति-पत्नी मिलकर तीन रोटियाँ बनाते हैं। पति दो खाना चाहता है, जिसके लिए तर्क देता है कि उसने चावल लाया है। यह कठिन कम था, जिसे उसने किय। स्त्री भी कहती है कि वह दो रोटी खाने की हकदार है,

1. मैत्रेयी पुष्पा - अलमा कबूतरी, पृ. 22

क्योंकि उसने लकड़ी ढूँढ़ा, चावल पीसा और रोटी पकायी। काम उसने अधिक किए। यने काम के आधार पर उसे बराबरी क हक मिलना चाहिए।"[1]

इन उपन्यासों से यह समझ सकता है कि आदिवासी स्त्रियाँ अन्याय के प्रति सदियों ने जूझती आ रही है और आज भी लड़ रही है। अब वे खुद बोलने लगी हैं। समाज भी जगा रहा है। इसकेलिए ज़रूरी है सरकार और समाज का सक्रिय सहयोग।

2.4.3 गरीबी

आदिवासी समाज खेती से जुडकर जीनेलासी गैय़ उनके जीविकोपार्जन का प्रमुख साधन ही कृषि है। लेकिन ये लोग गरीबी और भुखमरी के कारण भूमि का हस्तांतरण नहीं तो गिरवी रखते हैं। इसके फलस्वरूप विस्थापन जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है। आजीवन उन्हें अपनी भूमि वापस नहीं मिलती।

'गगन घटा घहरानी' में 'चैतू' और 'दामडू' नामक दो पात्र के माध्यम से इस सच्चाई को किया है - 'जब अकाल पडता है। तब खेत सूख जाते हैं। ऐसी स्थिति में चैतू और 'दामडू' अपना खेत जमींदार के पास 'रेहन' रखते हैं। परंतु एक बार रायसाहब के पास गिरवी रखा हुआ खेत फिर नहीं मिलती।"[2]

1. वंदना टेटे - आदिवासी साहित्य परंपरा और प्रयोजन, पृ. 27
2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 72

आदिवासी और प्रकृति एक दूसरे से गहरे में जुड़े हुए हैं। प्रकृति से जो समग्रियाँ उपलब्ध होती हैं उस पर ही उनका जीवन-यापन आगे बढ़ता है। आदिवासियों की सबसे बड़ी समस्या है उनका आर्थिक शोषण। 'धार उपन्यास में मैना अपना समाज में व्याप्त आर्थिक विपन्नता की ओर दृष्टि डालते हैं - 'हम को याद आता, जब हम बच्चा था, खेती से चार छै महीने का काम चल जाता, आज एक दिन का भी नईं। खेत-खतार, पेड़, रूख, कुआँ, तालाब, हम और हमारा बाल-बत्ता तक आज तेजाब में गल रहा है। भूख में जल रहा है।"[1]

आर्थिक दृष्टि से उन्नति प्राप्त होने की आवश्यकता पर 'समरशेष है' उपन्यास में 'अजीत बाबू' शिबू से कहते हैं, "यह जो आज़ादी मिली है वह अधूरी है। जब तक हम आर्थिक रूप से गुलम रहेंगे तब तक हमारा जीवन नहीं बदलेगा। हमारे दुःक तकलीफों का अन्त नहीं होगा। और आर्थिक आज़ादी सर्वहरा क्रान्ति से ही होगी।"[2]

गरीबी और बेगारी की वास्तविकता पहाड़ उपन्यास में छेदी और दशरथ के वार्तालाप से समझ सकता है छेदी ने हँसते हुए दशरथ से कहा 'मुखिया के यहाँ से पिछले साल का जवरा नहीं मिला अभी तक। बहन के व्याह का सबक मालूम है ही। जवरा माँगने के लिए गया था तो ऐसे बोला था मुखिया, जैसे भीख माँगने गए हों। साल भर इनके घर के हँसुए का दाँत

1. संजीव - धार, पृ. 56
2. विनोद कुमार - समर शेष है, पृ. 114

बनाओ, खुरपी पीटो और कुदाल का बेंट लगाओं। हल्क का फल ठीक रको। ऊपर से इनके घर की औरतें भी पहसुल भेज देती हैं कि चले जाओ छेदी लोहार के यहाँ, बढ़िया-सा बेंट लगवा लो ललमुनिया.. देखना अब कैसे मरिचा परपराएगा और दौड़े हुए आएँगे। कमीना मुफ्त में काम कराना चाहता है।"[1]

जहाँ बाँस फूलते हं उपन्यास में आर्थिक और सामाजिक विषमता के कारण उनका आक्रोश कैसे तीव्र बन जाते है इसका उल्लेख है 'मिजो बंधुओं! बहुत दिनों से ये धनी लोग ये बाई लोग लोगों का सुख अपनी तिजोरियों में कैदर रख चुके हैं। गरीबों का आहार इनके गोदामें में मूल्य-वृद्धि की प्रतीक्षा करते-करते सड़ रहा है। समय आ गया है कि ये अब अपनी तिजोरियों और गोदामों से महरूम हों। उनकी अट्टालिकाओं को गिरा दिया जाए और सारे वित्त को इन धरती के बेटों इन झुके लोगों में बॉट दिया जाए। समय आ गया है कि लुशाई हिल्स के सपूत ठें और इस निहंग धरती का भाग्य बदल दें।"[2] यहाँ के अमानवीय समाजिक व्यवस्था के प्रति प्रतिरोध का स्वर देख सकता है।

मैत्रेयी पुष्पा की उपन्यास अल्मा कबूतरी में 'कबूतरा' आदिवासियों का चित्रण है। कबूतरा आर्थिक दृष्टि से अत्यंत दयनीय है। होली आदि त्योहारों पर खाने को मिल जाता है। इन समाज की विशेषता यह है कि

---

1. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 66
2. श्री. प्रकाश मिश्र - जहाँ बाँस फूलते हं, , पृ. 130

इनका व्यवसाय शराब बनाना और चोरी करना है। इसके अलावा औरतें छोटे-छोटे काम भी करती है। राणा की माँ कदम बाई अपने लोगों के दशा पर प्रश्न चिन्ह करते हुए पूछते हैं कि 'क्या समझूँ? हमें तो बचपन से एक सच्चाई समझाई गई है कि कबूतरी के मर्द की कोई खेती-धरती नहीं होती। कुआँ-तालाब पर उसका हक नहीं होता। फिर भी जिंदा रहना होता है। अन्न-पानी चुराओ और जुटाओं बिना छत के सोने की आदत डालो। मौसमों को फतह करो।"[1] यहाँ इन समाजों की आर्थिक स्थिति संतोष जनक न होने के कारण बच्चे भी याने आगमी पीढ़ी भी चोरी करना सीख जाते है।

स्वतंत्रता प्राप्ति के इतने वर्षों के बाद भी आदिवासी समाज आर्थिक अभाव में जी रही है। श्रीप्रकाश मिश्र ने लुशेइयों आदिवासी जनता को केन्द्र में रखकर 'जहाँ बॉस फूलते है' उपन्यास की रचना की। इसमें इन लोगों की त्रासदी को व्यक्त किया है। वे फसल होते हैं मेहनत करते है और ज़मीन्दार आकर पक्की फसल करवाकर ले जाते हैं। इसके बाद दुष्परिणाम यह होता है कि- "भूख का मारा मिजो कुछेक वर्षों तक इंतज़ार करता था, फिर जंगल को साफ कर धान लगा जाता था। फसल जब तैयार होने को होती थी, तब अपना झोपड़ा बनाया जाता था। फिर एक दिन रात को इलाके के पुराने ज़मींदार रामनाथ लश्कर और मुश्ताक खांडकार अपने हाथियों के साथआ धमकते, इनके घरों को उजाड़ फसल काट कर ले जाते और खेती लायक ज़मीन दो-चार साल के लिए कब्जा कर लेते थे।"[2] यहाँ आदिवासियों का

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 113
2. श्री. प्रकाश मिश्र - जहाँ बाँस फूलते हं, , पृ. 69

ज़मीनदारों द्वारा शोषण और कैसे उनके समाज को उजाडते है इसका वस्तविकता देख सकते हैं।

'पहाड़' उपन्यास में गरीबी के कारण बाहर काम करने केलिए बाध्य आदिवासी लोगों की दयनीय स्थिति यहाँ देख सकते है।

"मौला माँझी का बेटा दो साल पहले बसई के कहने पर भट्ठे पर कम करने गया था। दो महीने बाद उसकी लाश आई थी और मालिकानों ने अब तक उसकी मज़दूरी का पैसा भी नहीं दिया था, आज-कल करके टरका रहे थे। मौला ने इस बार गुस्से में कहा - 'दू साल से आप ऐसे ही कह रहे हैं!'

बसई ने झल्लाकर कहा - 'का करें?"

'पइसा देने का मन है कि नहीं... साफ-साफ बता दीजिए।'

एक आदमी के कम होने के कारण मेट पहले से झल्लाए हुए थे, मौला की बात सुन बसई इस बार गुस्से में आ गए - "दिने में दारून पी लिये हो का? जाओ जिसने काम किया था उसको पैसा केलिए भेजो। तुमको नहीं देंगे।' कहकर बसई ने मौला को धक्का दे दिया।"[1]

राकेश वत्स कृत 'जंगल के आसपास' उपन्यास में सोन नदी के किनारे बसे दमकड़ी अंचल के आदिवासियों के अभिशप्त जीवन का चित्रण है। सोन नदी के किनारे फैले जंगल में आदिम जानवरों का आतंक,

1. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 78

पूँजीपतियों द्वारा आदिवासियों का शोषण, आदिवासियों का पिछड़ापन, धर्म की आड़ में उनका शोषण तथा विद्रोह भी उपन्यास में है। 'रायसाहेब' इस उपन्यास का ज़मीन्दार है। वे आदिवासियों का शोषण कर उन पर सदैव अपनी धाक जमाए रखना चाहते हैं। उपन्यास में दादा दिनेश को समझाते हैं- 'यही वह फूल है जिसका पानी जब ऊपर से काटकर रायसाहेब की घाटीवाली ज़मीन की तरफ मोड़ दिया जाता है, तब दमकड़ी और कई छोटे-छोटे गाँवों के सारे खेत प्यास के मारे सूखकर संगर होने लगते हैं। कृषकों की बौराई फसलें तबाह होने लगती हैं और पीने के पानी की भी भारी किल्लत हो जाती है। ऐसा साल में एकाध बार ज़रूर होता है ताकि लोगों को अपनी रीढ़ की हड्डी रायसाहब की मुट्ठी में होने का एहसास रहे और कोई भी उनके सामने सिर उठाने की जुर्रत न करे।"[1] कबूतरा समाज की आर्थिक स्थिति के अभाव पर 'राणा' मास्टरजी द्वारा दिये गये स्कूल के लेख में लिखता है -"पिटना-पीटता, मरना-मारना, हमारा काम। गुनिया, औझा, मुखिया, पुलिस हमारे भगवान हैं। कज्जा लोग मालिक और माई बाप। भूख-प्यास हमारी गुँइया है। देह जब गर्मी से जलने लगती है तो हम चोरी से तालाब में नहा लेते हैं। जाड़े में डब हड्डियाँ चटकने लगती हैं तो जंगल से ईंधन चुराकर देह सेंक लेते हैं। सब लोग हमें माफ कर दें बस हम इतना ही चाहते हैं।"[2] अपने लोगों के ऊपर थोपी गयी ऐसी अमानवीयता के प्रति प्रतिरोध यहाँ देख सकते हैं। मुख्यधारा समाज की अमानवीयता ही यहाँ अनावृत हो उठती है।

---

1. राकेश वत्स - जंगल के आसपास, पृ. 137
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 72

आदिवासियों का सामाजिक जीवन बिलकुल सीधा-सादा है। अल्मा कबूतरी उपन्यास की पात्र 'कदम बाई' के शब्दों में आदिवासी जीवन की सादगी देखिए 'हंसना क्या मुश्किल है मलिया काका, खाने को रोटी, पीने को पानी हो बस।"[1] यहाँ यह देखना चाहिए कि आदिवासी समाज जियो और जीने दो' को महत्व देते हैं और यह विचारधारा उनके जीवन में सदा पुष्ट करने का प्रयास भी वह लोग करते हैं। हरिराम मीणा के उपन्यास 'धूणी तपे तीर' में उपन्यास का पात्र 'गोविंद गुरु' इसी अवधारणा को व्यक्त करते हुए अंग्रेज़ों की मानगढ़ सैनिक कार्रवाई के संदर्भ में कहता है कि 'हमको जीने के लिए केवल अनाज व तन ढ़कने के लिए कपड़ा चाहिए। आप यहँ इतनी विशाल सेना लेकर क्यों आए हैं।"[2] इसके अलावा आदिवासियों की कार्य योजना सामूहिक सहयोगिता एवं अनुशासन पर टिकी हुई है। इसी सामूहिक सहयोगिता के संदर्भ में 'गोपीनाथ महन्ती' का कहना हैं कि 'वहाँ व्यक्ति खुद को समुदाय का अंग मानता है और समुदाय उन्हें अपना अंग मानता है। समुदाय के बल पर उन्हें भरोसा, होता है कि जीवन-निर्वाह केलिए कुछ न कुछ प्रबन्ध सबका हो जाएगा।"[3]

निष्कर्ष

आदिवासी समाज के प्रभावशाली सामाजिक मूल्यों पर आधारित विचारधारा एक लंबे अर्से के बाद में आज पूरी तरह परिभाषित हुई है। वह

---

1. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ. 70
2. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 352
3. वीर भारत तलवार -झारघंड के आदिवासियों के बीच एक एक्टीविस्ट के नोट्स, पृ. 80

पहाड़ों पर्वतों, ज़मीन, जंगलों के साथ अपने अस्तित्व की स्थापना के क्रम में रूपायित है। लेकिन यह विचारधारा समकालीन संदर्भ में नष्ट होने की स्थिति में है। क्योंकि वर्तमान संदर्भ में आदिवासी समाज बाहरी और भीतरी दोनों ही तरह की समस्याओं व संभावनाओं के बीच एक संघट, की स्थिति में है। वह एक ओर आधुनिकता और परंपरा के बीच छपपटा रहा है तो दूसरी ओर उसे अपने जल, जंगल और ज़मीन की रिश्तेदारी को भी निभानी है। भूमंडलीकरण और बाज़ारीकरण भी उनके सामने चुनौती के रूप में है जो उनके जीवन के संकट को ओर भी तीव्र कर रहे हैं।

जब एक समुदाय साक्षर होता है, सजग होता है तब वह कई तरीके से कई समस्याओं के विषय में सोचना आरंभ करता है। आदिवासी समाज अन्य समाजों की तुलना में कहीं देर से साक्षर हुआ फिर भी आज इस समाज अपने चारों तरफ की समस्याओं के प्रति सजग है, सक्रिय प्रतिरोध भी व्यक्त कर रहा है, चाहे वह साहित्य में हो या सामाजिक स्तर पर हो। साहित्य में विशेषकर समकालीन उपन्यास में यह प्रतिरोध सशक्त ढंग से अभिव्यक्त हो रहा है। यह प्रतिरोध ही सचमुच आदिवासी साहित्य को विमर्श का दर्जा प्रदान करता है।

❖ ❖ ❖

तीसरा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी जीवन और राजनीति

3.1 समकालीन साहित्य और राजनीति

राजनीति का अर्थ है राज करने की नीति राजनीति समाज को नियंत्रित करनेवाली महत्वपूर्ण नीतियों का संपुज है। मनुष्य को भौतिक सुख-सुविधाएँ प्रदान करके उसे नैतिकता के मार्ग पर आगे बढ़ाना ही इसका लक्ष्य है। इसलिए राष्ट्र के भविष्य को निर्धारित करने में उस राष्ट्र की राजनीति का महत्वपूर्ण योगदान है। अर्थात् राज्य का सम्यक संचालन ही राजनीति है। समाज से अलग होकर राजनीति का कोई अस्तित्व नहीं है।

व्यक्ति या समाज के द्वारा संघर्ष या सहयोग के माध्यम से सत्ता के इस्तेमाल के लिए प्रयत्नशील गद्यात्मक गतिविधि ही राजनीति है, "राजनीति शक्ति और प्रभाव संबन्धी वह गद्यात्मक गतिविधि जिसके द्वारा व्यक्ति या व्यक्ति समूह सहयोग एवं द्वन्द्व के माध्यम से अपने उद्देश्यों की पूर्ती के लिए राजनीतिक संरचनाओं, प्रक्रियाओं, एवं क्रिया विधियों की औचित्य पूर्ण सत्ता के प्रयोग का प्रयास करते हैं ।"[1] जितेन्द्र के अनुसार राजनीति से तात्पर्य उस शास्त्र से है जो राज्य संचालन संबन्धी नीतियों का अध्ययन प्रस्तुत करता है। ये विशेषतः संविधान से संबन्ध होता है जिसे किसी भी देश का संचालन कर्ता उसे जीवन के व्यवहार रूप में परिणत करने का भरसक प्रयत्न करता है।"[2]

---

1. डॉ. श्यामलाल वर्मा - आधुनिक राजनीतिक सिद्धांत, पृ. 15
2. डॉ. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, पृ. 96

पाश्चात्य विद्वान वारनॉन वानडायक के अनुसार 'राजनीति एक क्रिया है, वह सार्वजनिक समस्याओं के मध्य द्वन्द्वात्मक इच्छाओं की पूर्ती के लिए किया गया संघर्ष है।"[1]

मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन में इसका प्रभाव स्पष्ट है। 'पिनाक' एवं स्मिथ ने राजनीति की परिभाषा इस प्रकार व्यक्त किया है- "राजनीति उन समस्त शक्तियों से संबधित है जो राज्य के शासन उसकी नीतियों तथा कार्यों को संग्रहित करती एवं गढ़ती है। इस तरह राजनीति किसी भी समाज में उन सभी शक्तियों, संस्थाओं तथा संगठनात्मक प्रकारों से संबन्धित होती है, जो किसी समाज में सुव्यवस्था की स्थापना, उसके सदस्यों के सहमार्गित प्रयोजनों को कार्यान्वित तथा उनके मतभेदों का समाधान करने केलिए उस समाज में सर्वाधिक अन्तर्भावी तथा अंतिम सत्ता माने जाते हो।"[2]

राजनीति और समाज का अन्योन्याश्रित संबन्ध है। किसी भी देश की राजनीति के निर्धारण में वहाँ की सामाजिक संरचना की अहम् भूमिका होती है। सामाजिक-संगठन का आधार ही राजनीति है। लेकिन आज राजनीति सामाजिक उत्तरदायित्व से अलग हो गयी है। राजनैतिक रूप से सत्ताधारी वर्ग के चरित्र में जो परिवर्तन आया वो 'कुर्सी' की राजनीति में सीमित हो गया। राजनीति का सच्चा उद्देश्य इस संदर्भ में समझ लेना अनिवार्य है।

---

1. वारनाँन वानडायक पोलिटिक्कल साईंस ए फिलोसफिकल एवलाइसिस, पृ, 133
2. डॉ. जितेन्द्र वत्स, साठोत्तरी हिन्दी कहानी और राजनीतिक चेतना, पृ. 96

"राष्ट्र या राज्य (यहाँ दोनों का अर्थ एक है) का संचालन करने का काम राजनीति है। यह एक कला है विज्ञान भी है, नेतृत्व है, और सर्वोपरि एक दायित्व है, राजसंचालन द्वारा समाज को और समन्वित बनाये रखने का दायित्व।"[1] लेकिन आज इसके विपरीत है राजनीति। आज़ादी के बाद आज तक आते आते राजनीति की गरिमा नष्ट हो गयी है और राजनेताओं की विश्वसनीयता भी घट गई है।"[1]

भारत एक लोकतंत्रीय राष्ट्र होने पर भी वहाँ का लोकतंत्र आज सिर्फ एक राजनैतिक विचार धारा या सामाजिक व्यवस्था के रूप में सिमट गया है। वास्तव में लोकतंत्र जो है व्यक्ति और समाज के आपसी संबंधों को तय करता है। वह व्यक्ति को अधिक जिम्मेदार और समाज को अधिक सरोकारी बनाता है। इस संदर्भ में राजनीति का दायित्व है उन क्षेत्रों और समाजों की आवाज़ों और आग्रहों को भी साथ ले आना जिन्हें हाशिए पर निचले स्तर पर फेंक दिये गये हैं। लेकिन आज देश के हाशिए पर छोड दिए गए लोगों की सेवा के लिए कोई राजनीति नहीं हैं। बल्कि उन्हें कई तरह के शोषण के शिकार बनाते जा रहे है।

प्रजातांत्रिक व्यवस्था में प्रजा का हित ही सर्वोपरि है । लेकिन आज की राजनीति में नेताओं का स्वहित ही सबकुछ माना जाता है। जिस अच्छे उद्देश्य को लेकर राजनीति की व्यवस्था को कायम किया गया था आज वह उससे कोसों दूर पड गया है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में जनता के हित केलिए

---

1. भारतीय राजनीति पर एक दृष्टिकोण सं. किशनपटनायक, पृ. 68

रक्षा केलिए लोकतांत्रिक शासन या प्रजातांत्रिक व्यवस्था का गढ़न हुआ था। लेकिन आज़ादी के 70 साल के बाद भी हमारे देश में विकास के संस्पर्श से दूर रहनेवाले आदिवासी समाजों को उनदेखा करनेवाली व्यवस्था कायम है। उनके संसाधनों का अंधाधुंध दोहन किया जा रहा है।

3.2 विकास की राजनीति

आदिवासी भारत के प्रथम निवासी हैं, जिनकी जनसंख्या 10.43 करोड है, जो देश के कुल जन संख्या का 8.6 प्रतिशत है। ये लोग जल, जंगल और ज़मीन को सर्वस्व माननेवाले हैं। पूर्णतः प्रकृति पर निर्भर जीवन बिताने वाले इनके जीनव में बाह्यलोगों का हस्तक्षेप होता ही रहता है। हरेक समय में भी अनेक प्रकार से बाहरी हस्तक्षेप से प्रभावित है ये लोग। अंग्रेज़ों के आगमन ने आदिवासी लोगों के जीवन में आमूलचूल बदलाव उपस्थिति किया था।

आदिवासी जीवन की सबसे बडी विशेषता सामूहिकता है। सामूहिक जीवन को महत्व देनेवाले लोगों के जीवन में बदलाव लाने में बाहरी हस्तक्षेप की भूमिका सर्वाधिक है। क्योंकि आदिवासी समाज की अपनी विशेष जीवन प्रणालियाँ हैं। सत्ता-व्यवस्था है, नेता है। सब को समान रूप में देखने की प्रवृत्ति विद्यमान है। ऐसे समाज पर जो बाहरी हस्तक्षेफ होता है उसका असर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक स्तर पर बदलाव लाते हैं।

अंग्रेज़ों के आगमन से शुरु हुए बदलाव अब भी जारी है। जीवन के आधारभूत तत्व जंगल का नाश करते हुए अंग्रेज़ों आदिवासी समाज की मूलसत्ता को भी जड़ों से फेंक दिया, 'शुरुआती दौर में भारतीय वनों ने ब्रिटिश जहाज़रानी उद्योग को उम्दा लकडी मुहैया करायी। इसके बाद अंग्रेज़ों का ध्यान समूचे भारतीय साम्राज्य को रेलवे से जोड़ने की ओर मुड़ा जिसमें पटरियाँ बिछाने के लिए उपजी लकड़ियों की बृहद् माँग ने वनों का महत्व और बढ़ा दिया। अंग्रेज़ी शासन व्यवस्था आने से खेती की ज़मीनों पर लगान, वनों की उपज पर पाबंदी व वसूली, बेगार शोषण, हत्या और अत्याचारों का कहर उनके जीवन में बर्बाद किया।"[1] स्पष्ट है कि ब्रिटिश उपनिवेश को सिर्फ धन चाहिए था। आदिवासियों का अस्तित्व मिटे या अस्मिताएं इससे उनका कोई खास लेना-देना नहीं था।

सामान्यतः वनोपज से ही आदिवासियों का जीवन चलता था। लेकिन उस पर लगायी गयी पाबंदियों ने आदिवासियों की समस्याओं को और बढ़ाया। खेती करने के लिए और बाद में फसल लेते समय भी सरकार को लगान देना था।

ब्रिटिश सरकार की ऐसी गतिविधियों ने ही आदिवासियों को विभिन्न प्रकार के आन्दोलनों के लिए मजबूर कर दिया था। आदिवासियों के ऐतिहासिक आन्दोलन जैसे खासी विद्रोह, मुंडा विद्रोह, संथाल विद्रोह, भीर विद्रोह आदि में आदिवासी आस्मिता की ही लड़ाई थी।

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 40

राजतंत्र और ब्रिटिश तंत्र खत्म होने के बाद देश स्वतंत्र हुआ। जब देश आजाद हुआ तो उनको बड़ी उम्मीद थी कि अब सब कुछ ठीक हो जाएँगे। यह धारणा गलत स्थापित हुई। एक शोषण मुक्त और समतायुक्त सामाजिक जीवन के निर्माण में भागीदार होनेवाले समाज से आदिवासी दूर होने लगे। आदिवासि समाज को असपृश्य और असभ्य कहकर उन्हें देश के नवनिर्माण की प्रक्रिया में भाग लेने से वंचित रखा, राष्ट्रीय जीवन की मूलधारा से भी काट दिया।

आदिवासी समाज सदियों से सर्वानुमति पर टिके स्वशासन पर ही चलता रहा है। लेकिन देश के विकास केलिए संसदीय चुनाव व बहुमत के आधार पर टिके लोकतंत्र पर आज आदिवासी समाज भी पूर्णतः भाग लेने केलिए तैयार हो गए हैं। लेकिन आदिवासी को सिर्फ वोट बैंक के रूप में ही माना जा रहा है उससे बढकर लोकतंत्रीय शासन प्रणाली में उनकी कोई अस्मिता नहीं गयी है।

देश आज़ाद होने से पहले अंग्रेज़ों ने ही आदिवासियों को जंगल में प्रवेश करने वनों में उत्पन्न खाद्य-व्सुतओं का उपयोग करने आदि में कई प्रकार की वन-नीतियाँ, वन प्रबंधन और वन-कानून बनाकर प्रतिबन्ध लगा दिया था। आज़ादी के बाद औद्योगिकीकरण तथा व्यापारियों की धनलिप्सा आदि ने इन कानूनों को आगे बढ़ाने की भूमिका तैय्यार की। इस प्रकार अपने ही देश की सरकार द्वारा जंगलवासियों को उनके परंपरागत वन-अधिकारों को लगातार खदेड़ने की व्यवस्था को स्वीकार किया गया।

3.3 आदिवासी समाज में राजनीतिक हस्तक्षेप

कहा जाता है कि किसी भी राष्ट्र की शक्ति एवं स्थिरता के लिए तथा उसमें निवास करनेवाली प्रजा के जीवन स्तर के विकास के लिए राजनीतिक वातावरण का स्वस्थ होना पहली तथा अनिवार्य शर्त है।"[1] लेकिन वर्तमान सन्दर्भ में इस दृष्टि का ह्रास हो गया है। आज-कल राजनीति नैतिकता विहीन बन कर सिर्फ 'कुर्सी' की राजनीति में सीमित हो गयी है। जनता को रोटी, कपड़ा मकान और स्वस्थ जीवन देने के बजाय रोज़ आश्वासनों की छूटी वादाएँ दोनेवाले भ्रष्ट राजनीतिक लोग ही सर्वत्र दिखाई देते है।

राजनीतिक क्षेत्र के इस विघटित और पतनोन्मुख स्वरूप को उजागर करनेवाला है समकालीन साहित्य। साहित्य और राजनीति अटूट संबन्ध है वह एक दूसरे का पूरक है। 'अज्ञेय' जी ने कहा भी है 'साहित्य और राजनीति को दो पृथक और विरोधी तत्व मान लेना किसी प्राचीन युग में भी उचित न होता, आज के से संघर्ष-युग में वह मुर्खतापूर्ण सा ही है।"[2] स्पष्ट है कि जिस प्रकार जीवन और साहित्य एक-दूसरे से आश्रित है वैसे ही जीवन और राजनीति। राजनीति के गतिविधियों का परिणाम सीधे जनता पर पडता है। इसलिए जनता के सामाजिक जीवन में राजनीति का महत्वपूर्म हस्तक्षेप है।

समकालीन साहित्य सचमुच संघर्ष का साहित्य है। अपने समाज की

---

1. डॉ. सुधाकर अडीब - हिन्दी उपन्यासों में प्रशासन, पृ. 141
2. अज्ञेय - त्रिशंकु, पृ. 73

प्रतिकूलताओं के खिलाफ निरंतर संघर्षरत पात्र समकालीन साहित्य को जीवन्त एवं सक्रिय बना देते हैं। अन्य विमर्शों के साहित्य के समान आदिवासी साहित्य भी अपने समय की असंगतियों के खिलाफ आवाज़ उठानेवाले तथा आदिवासी जीवन यथार्थ को प्रस्तुत करते हुए उनकी अपनी अस्मिता के संघर्ष को प्रस्तुत करने वाला दस्तावेज़ बन गया है। बाहरी हस्तक्षेफ से पिसते, कराहते, विद्रोह करते आदिवासी जन-जीवन का आक्रोश है उनका साहित्य। वे पग-पग पर शोषित एवं पीडित है। विभिन्न शोषक शक्तियों से निरंतर शोषित आदिवासी जनता के जागरण का इतिहास है आदिवासी विमर्श । राजनीति और उनके दल दलबदल उनको धोखा देकर कई प्रकार से उनका शोषण कर रहे है। इस सच्चाई का अनावरण करते हुए आदिवासी साहित्यकारों ने अपना आक्रोश प्रकट किया है। यही साहित्य के सन्दर्भ में आदिवासी विमर्श है।

भारतीय औद्योगीकरण और शहरीकरण के मूल संसाधन मुख्यतः आदिवसी क्षेत्रों से ही आते हैं। विकास के नाम पर आदिवासी समाज को लूटनेवाली शासन व्यवस्था के प्रति रोहिणी अग्रवाल की टिप्पणी है-‘नवउदारवादी अर्थव्यवस्था और उपभोक्तावाद के गठबंधन ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को अनायास ही यह अधिकार दे दिया है कि विकास के नाम पर मदद हेतू वे तीसरी दुनिया के तम्बू में ऊंट की भांति पांव पसारे और फिर मूल निवासियों को ही वहाँ से खदेड़ दे।”[1] यह आज की सच्चाई है।

1. अभयकुमार दुबे - प्रतिमान जनवरी - जून, 2013, पृ. 218

बाज़ारोन्मुख विकास के इसी कारपोरेट दर्शन की विसंगति को रेखाकित करते हुए फैसल अनुराग का मत है - "विकास के लिए जिन नीतियों की वकालत की जा रही है, वे न केवल प्रकृति के साथ साहचर्य को तोड़ती हैं बल्कि प्रकृति और आदिवासी समाज के बीच जीवंत संबन्धों को नुकसान भी पहूँचाती है।"[1]

औद्योगिकरण की प्रक्रिया ने अस्तित्व को ही नहीं आदिवासियों की अस्मिता को भी मिटा दिया। आदिवासियों को यह विकास नीति मददगार नहीं है। पर सरकार के तानाशाही पूर्ण रवैये से उन्हें अपने घर जंगल को छोडकर जाना पड़ा। सरकारी नेताओं ने उनसे कहा कि उन्हें अपनी ज़मीन तो देनी ही पड़ेगी। 'समर शेष है उपन्यास में राष्ट्र हित के लिए अपनी ज़मीनें छोड़ देने की बातें यों करते हैं - "देखो भाई राष्ट्रहित में त्याग तो करना ही पड़ता है। देश के विकास के लिए स्टील की कितनी अहमियत है यह तुम लोग नहीं समझोगे। इसके अलावा हर विस्थापित परिवार के एक सदृश्य को हम नौकरी भी तो दे रहे हैं।"[2] बड़े-बड़े कारखाने के निर्माण करते हुए विकास चालू करना तो अधिकारी वर्ग चाहते है। साथ ही आदिवासी लोगों को नौकरी देने की झूठी वादें भी देते है।

विकास के नाम पर आदिवासी गांवों को तहस-नहस करके युरेनियम खनन करनेवाली योजना पर 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में

---

1. सं. उर्मिलेश - उदारीकरण और विकास का सच, पृ. 205
2. विनोदकुमार - समरशेष है, पृ. 167

चर्चा की गई है - "सगेन एक दिन देखता है कि नई खदान कंपनी के लोग कई पुलिस कर्मियों के साथ खड़े होकर उसकी झोंपडी को उस गाड़ी से तुडवा रहे हैं। कांडे के घर के लोग... उनके पड़ोसी हाय-तौबा मचा रहे हैं मगर वे किसी की बात नहीं सुन रहे हैं। देखते-देखते करीब बाईस झोंपड़ी उज़ाड़ दी गई।... और... और उन झोंपडियों तथा झोंपड़ियों के आसपास के तमाम खेतों को समेटकर वहाँ एक बड़ा सा डैम बन दिया गया। कहा गया कि खदान कंपनी की मिल से निकले कचरे को गिराने के लिए बनाया गया है वह।"[1] सत्ताधारी वर्ग केलिए मिट्टी या ज़मीन सिर्फ बेचने की वस्तु या दोहन और उपभोग की वस्तु बन गये हैं। उनकेलिए ज़मीन उर्वर और जीवंत की वाहक नहीं है।

समर शेष है उपन्यास में भी कारखाने के लिए आदिवासीयों की ज़मीन हडप लेते है। ज़मीन के बदले ये मुआवजा देने का वादा देकर धोख देते है। सब उपन्यास में अधिकारी वर्ग आदिवासियों के यह सिखा देते हैं कि - "क्या रखा है खेती-बाड़ी में। ज़माना औद्योगिकरण का है। इस क्षेत्र में न सिचाई का साधन है न उर्वरा ज़मीन। ज़मीन का मुआवजा मिलेगा पुनर्वास क्षेत्र में रहने की जगह। खेती-बाड़ी ही करनी है तो जो पैसा मिले उससे नई ज़मीन खरीद लो।"[2]

विकास के नाम पर आदिवासी इलाकों में होनेवाली अनीतियों के खिलाफ विचार करने पर आधिकारी वर्ग उन्हें धमकाने की कोशिश भी करते हैं। 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' में युरेनियम खदान के विरोध में आवाज़

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 84
2. विनोद कुमार, समर शेष है, पृ. 175

उठाने पर अधिकारि वर्ग 'सगेन' को धमकाने की कोशिश करते है। 'युरेनियम या परमाणू का मामला अत्यंत संवेदनशील मामला है। इसके खिलाफ सार्वजनिक रूप से कुछ भी बोलना या कोई भी कदम उठाना देश द्रोह माना जाता है। इस मामले में कंपनी तथा प्रशासन का रवैया अत्यंत सख्त है। ऐसा करने पर किसी भी वक्त किरफ्तार किये जा सकते हो। कठोर से कठोर सजा हो सकती है।"[1] आज राजनीति या प्रशासनिक लोग आमजनता के हित के लिए कर्मरत नहीं है। बल्कि वह करोड़पतियों और पूँजीपतियों के साथ है।

वर्तमान समय में सरकार कई योजनाओं के लिए भूमि का अधिग्रहण करती रहती है ! यह कभी स्कूल, अभ्यारण्य, बांध खनन और कभी उद्योग-धंधों के लिए भी करती रहती है। लेकिन यह अधिग्रहित की जानेवाली ज़मीन आदिवासियों से बड़ी आसानी से हड़प लेनेवाली है। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में रणेन्द्र बताते है कि सरकार के लिए भेडियों को बचाया जाना ज़्यादा ज़रूरी है। देश में भेड़ियों की संख्या कम होने से सरकार चिंतित है। उन्हें बचाने के लिए सरकार अभ्यारण्य बनाने का महत्वपूर्ण कदम उठाती है, जिसके लिए आदिवासियों की भूमि का अधिग्रहण किया जाता है। उपन्यास में सखुआपाट में जब 'लालचन' दा बुधनी के केबिन में आता है तब इस बात का खुलासा मिलता है - 'वनविभाग ने खतियान में दर्ज सैतीस वन गाँवों को खाली करने की नोटिस दी है। क्या तो भेड़िया सबको बचाने के लिए कोई योजना है।"[2]

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 162
2. रणेन्द्र - ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 78

व्यावसायिकता के नाम पर भी आदिवासी गाँवों को पूरी तरह तहस नहस करके अधिकारी वर्ग विकास की नीतियों को लागू करना चाहते हैं। जंगलों से आदिवासियों के अधिकारों को छीन लिए गए हैं। आदिवासी लोग वनोपज से जीवनयापन करनेवाले होने के कारण उन्हें बहुत अधिक समस्याओं का समना करना पडता है। 'मरंगा गोड़ा नीलकंठ हुआ' में नष्ट होनेवाले जंगलों को लेकर आशंका प्रकट की गयी है। जंगल के खत्म होने से आदिवासियों की चिंताएँ बहुत बढ़ गई हैं। उनकी अस्मिताएं जंगल से जुड़ी हुई हैं। उन पर संकट आना शुरु हो गया, 'सूप, टोकरी या चढाई कैसे बुनेंगे? रूगाड़ा, खुखरी, हऊ पोडोम, बुरदुड, डियंग बनाने का रानु और बीमारों को ठीक करने की जड़ी-बूटियां भी तो जंगल से ही आती हैं। जंगल में ही नाच-गाकर, खेल-कूदकर, शिकार करके हमारे बच्चे बड़े होते हैं। जंगल आते-जाते ही वे अपने बड़ों से अपनी संस्कृति, अपनी परंपराओं रीति-रिवाज़ों और संस्कारों के बारे में जानते हैं, सीखते हैं।"[1]

बढ़ती शहरीकरण और अनुचित विकास योजनाओं के कारण विनाश का सामना करनेवाले आदिवासी जीवन और जंगल की ओर सचेत करनेवाला उपन्यास है गायब होता देश' इस में मुडा आदिवासी को केन्द्र में रखकर रणेन्द्र संपूर्ण आदिवासी समुदायों की अस्मिता के गायब होने की ही बात कर रहे हैं। उपन्यास का आरंभ ही आदिवासी आस्मिता को लेकर गहरी चिंता व्यक्त करते हुए है, समझदार इंसानों की अधाधुंध उत्खनन के उठे गुबार-बवडंर में सोना लेकिन दिसुम गायब होता जा रहा है। सरना-वनस्पति

1. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 113

जगत गायब हुआ, मरांग-बुरु बोगा, पहाड़ देवता गायब हुए, गीत गने वाली, धीमी बहने वली सोने की चमक बिखेरने वाली, हीरों से भरी सारी नदियों, जिनके इकिर बोंगा-जल देवता का वास था, गायब हो गई, मुंडाओं के बेटे-बेटियां भी गायब होने शुरु हो गए। सोना लेतिन दिसुम गायब होनेवाले देश में तब्दील हो गया।"[1]

वर्तमान संदर्भ में प्रतिदिन आदिवासियों को जंगल से खदेड़ने का अभियान चल रहा है। उनकी ज़मीनों और पहाड़ों को हड़प कर बहुराष्ट्रीय कंपनियों पनप रही है। इस संदर्भ में 'ग्लैडसन डुगंडुंग' का विचार महत्वपूर्ण बन जाते है। उनका विचार है 'देश में ऐसी कौन-सी परिस्थिति थी, जितने सरकार को भूमि अधिग्रहण अध्यादेश लाने को मज़बूर किया? अध्यादेश के द्वारा केन्द्र सरकार कौन से विदेशी पुँजीनिवेश को सुनिश्चित करना चाहती थी?"[2] यह प्रश्न जो है तमाम विकास नीतियों के ऊपर है। देश के विकास के नाम पर आदिवासियों के पर्वतों को नष्ट कर उस ज़मीन को मंडी यानी बाज़र में बेचकर अधिकारी वर्ग या नेता लोग अरबपति बन रहे हैं। दूसरी तरफ के मूल निवासी यानी आदिवासी लाचर, निराधार और निस्सहाय होकर जीने केलिए विवश है।

भूमंडलीकरण ने भी आदिवासियों की जीविका को और उनके अस्तित्व को संकट की स्थिति में पहुँचा दिया है। इस संकट का सबसे ज़्यादा प्रहर प्राकृतिक संसाधनों पर निर्भर आदिवासी समुदायों की आजीविका और

1. रणेन्द्र - गायब होता देश, पृ. 3
2. ग्लैडसन डुंगडुंग - 'ज़मीन लूट की गांरटी देता भूमि-अधिग्रहण अध्यादेश, युद्धरत आम आदमी, सितंबर 2015, पृ. 49

स्वास्थ्य पर पडा है। 'ग्लोबल गाँव के देवत में' उपन्यास का पात्र डॉ. रामकुमार बहुराष्ट्र कंपनियों द्वारा सृजित परिस्थितियों के प्रति विचार यों व्यक्त करता है - "पिछले पच्चीसैंतीस सालों में खान-मालिकों ने जो बड़े-बड़े गड्ढे छोड़े हैं, बरसात में इन गड्ढों में पानी भर जाता है और मच्छर पलते हैं। सेरेब्रल मलेरिया यहाँ के लिए महामारी है, महामारी मुड़ीकटवा से साल-दो साल पर भेंट होती है किंतु इस जानमारू से तो हर रोज़ भेंट होगी।"[1] यहाँ शोषक वर्ग से शोषण से उत्पन्न पर्यावरण प्रदूषण का भी चित्रण है। पर्यावरण प्रदूषण ही धरती की सबसे बड़ी समस्या है।

'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' में यूरेनियम खुदाई-जनित विकिरण की त्रासदी झेल रहे आदिवासी समुदाय के प्रतिनिधि के रूप में 'सगेन' युरेनियम विकिरण की त्रासदी और पर्यावरण संतुल के प्रति अधिकारी वर्ग की उपेक्षा पर प्रश्न चिह्न डालता है। जैसे कि - "क्यों नहीं बताया गया कि खदान से विस्फोट करके निकाले गए युरोनिय अयस्क वाले पत्थरों से धुल-धुलकर आते बरसाती जल के कारण उनके कुओं, तालाबों और नदी के पानी में, उनकी मिट्टी में, उनके खेतों की फसल में जहर धुल चुका है? क्यों खनन कार्य केलिए, मिल या टेलिंग डैम केलिए उनकी ज़मीन लेते वक्त, उन्हें यह नहीं बताया गया कि उनसे न सिर्फ उनकी ज़मीन ली जा रही है या उनका जंगल लिया जा रहा है बल्कि उनका स्वास्थ्य, उनका खुशहाल जीवन भी छीना जा रहा है।"[2] प्रकृति को अपना अस्तित्व और अस्मिता मानने वाले आदिवासी लोगों के लिए प्रकृति के बिना जीना मुश्किल है। प्रदूषण से कई

1. रणेन्द्र - ग्लोबल गांव के देवता, पृ. 13
2. महुआ माजी - मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, पृ. 163

जीव-जंतुओं की प्रजातियाँ खत्म हो गई हैं तो हमारे सामने बड़ा प्रश्न है कि यह धऱती यह पृथ्वी कितने वर्षों तक बच पायेगे।

वैश्वीकरण के इस दौर में बहुत सारी विकास योजनाएँ अमल कर रहे हैं अधिकारी वर्ग। और वे यह साबित करने का प्रयत्न की करते हैं कि ये सारी योजनाएँ जनहिताय हैं पर सचमुच इसका असली भोक्ता खुद से अधिकारीवर्ग तथा उनके ऊपर के नियंत्रक वर्ग बहुराष्ट्र कंपनियाँ है। आज के निजीकरण, उदारीकरण और भूमंडलीकरण के पीछे का षड्यंत्र यही है। इसलिए जनता दिने दिने गरीबी बनकी जा रही है और ये शोषक वर्ग और अमीर।

3.4 राजनीतिक अपराधीकरण

'अंग्रेज़ी में भ्रष्टाचार के लिए करप्शन (Curruption) शब्द का प्रयोग है। लैटिन भाषा के शब्द 'करट्टियो' से इसकी व्युत्पत्ति हुई और जिसका अभिप्राय नैतिकता का हास, सामान्य स्तर से नीचे गिरना, स्थिति का बिगडना आदि है।"[1] आज के संदर्भ में राजनीतिक क्षेत्र में व्याप्त भ्रष्टाचार देश की सबसे बड़ी त्रासदी है। देश और जनता की प्रगति एवं कल्याण केलिए ही विविध नीतियों का और योजनाओं का निर्माण राजनीति के तहत किया गया है। लेकिन बदलती आर्थिक परिस्थिति में जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में 'सत्ता' का हस्तक्षेप ही दिखा रहा है। भारतीय राजनीति आज व्यक्ति केन्द्रित होने के कारण, सत्ता से प्राप्त होनेवाली सुख-सुविधाओं की प्राप्ति

---

1. अभयकुमार दुबे - प्रतिमान, जनवरी-जून 2013, पृ. 32

केलिए राजनीति को भी भ्रष्ट कर दिया गया है। याने कि अपनी स्वार्थपूर्ती केलिए सरकारी पदों का दुरुपयोग करने की प्रवृत्ति भी भ्रष्टाचार है।

वर्तमान भ्रष्ट राजनीतिक शासन व्यवस्था के हकीकतों को समकालीन आदिवासी उपन्यासकार अपनी रचनाओं के माध्यम से स्पष्ट करने का प्रयास कर रहे हैं। आज राजनीतिक क्षेत्र में ईमानदार व्यक्ति के लिए कोई स्थान नहीं। आज की राजनीति में न्याय, और सत्य केलिए कोई स्थान नहीं। 'आल्माकबूतरी' में इसका साक्ष्य यों प्रस्तुत किया गया है "राजनीति में देखेंगे कि सत्ता की कुर्सी आदमी का ईमान नहीं परखती। विधायकों की गिनती करती है, जो न बेईमानी के बिना खरीदे जाएँ न बनाए जाएँ।"[1]

राजनीतिज्ञ आदिवासी लोगों को वोट बैंक के रूप में देख रहे हैं, उनके उद्धार का दिखावा करके अपने स्वार्थों की पूर्ती कर रहे हैं। 'ग्लोबल गाँव के देवता' में शिडाल्को माइनिंग कंपनी के अवैध खनन तथा कंपनी के अन्य अत्याचारों के खिलाफ असुर जनजाति आवाज़ उठाते हैं तो कंपनिवाले इनको चुप कराने का प्रयास करते हैं। राजनीतिक नेताओं के मन में भी इन असुरों के प्रति उपेक्षा भाव है। यहाँ डाक्टर रामकुमार और एक नेता की बीच हुए बातचीतों से हमें पता चलता हैं 'अरे क्या डॉक्टर कौन बुडबक देहाती भुच्च लोग से भेंट करवा दिए, एही लोग से परिचय पाती का स्टैंडट है का हमरा? हम तो ऐसन लोग से मूँह तक नहीं लगते।"[2]

---

1. अल्मा कबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 287
2. रणेन्द्र - ग्लोबल गांव के देवता, पृ. 74

'जंगल जहाँ शुरु होता है' में राजनेताओं द्वारा अपनी स्वार्थपूर्ति केलिए पालते डकैतों का चित्रण किया गया है। आज के सफेदपोश राजनेताओं के दोहरे व्यक्तित्व का चित्रण लेखक ने किया है। केन्द्र मंत्रीदूबे दी डाकू उन्मूलन को बढ़ावा देता है। इसी समय मंत्री जी की बेटी की शादी में टाकू लोग उपस्तिथ भी है। डाकुओं और राजनीतिज्ञों के बीच गहरा संबंध है। इसलिए टाकू परशुरान अपनी राजनीतिक पकड़ से अंधा बनकर कुमार जैसे निडर पुलिस अफसर को धमकी देता है- "तुम जिस मंत्री का बरदान पाके अज़र-अमर बना घमेड से डोंठ रहा है, टु भी हमरे बनावत्त है।"[1]

आदिवासियों के उत्थान के लिए सरकार द्वारा कई योजनाएँ बनाई गयी हैं जो इन तक पहुँचती नहीं। सरकारी कर्मचारी ही अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए इन विकास योजनाओं में बाधा डालते है। आदिवासियों के नाम फायदा उठानेवाले अधिकारी वर्ग के प्रति विनोद विश्व कर्मा का कथन है - 'राजनीति लोकतांत्रिक हलचल में अनेक बार ऐसा देखने को मिला कि भारत में वोट की राजनीति केलिए आदिवासी जातियों में उतार-चढ़ाव भी हुए अर्थात् इन्हें जोड़ा घटाया गया। लेकिन इनकी उचित सामाजिक व्यवस्था न हो सकी। कुछ आदिवासी जातियों ने आरक्षण और अन्य चीज़ों का व्यापक लाभ लिया लेकिन अधिकाश जातियाँ अशिक्षा, गरीबी, अर्थ हीनता और संस्कृति हीनाता का शिकार रहीं।"[2]

---

1. सजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 41
2. सं. डॉ. विनोद विश्व वर्मा - उत्तर आधुनिकता और आदिवासी विमर्श - पृ. 8

जंगल और आदिवासियों के प्रति अधिकारी वर्ग का नज़र स्वार्थपूर्ण है। इसका सचित्रण मनमोहन पाठक द्वारा लिखित 'गगन घटा घहरानी' में हैं। उपन्यास में पलामू और उसके आस-पास के आदिवासी जनताओं के आपसी संघर्ष की कथा है। गरीबी और बेगार की समस्या के अलावा अधिकारी वर्ग द्वारा लूटने का यथार्थ भी इसमें देख सकते हैं, 'जंगल में करीगई लकड़ियों की संख्या एक। चेकपोस्ट पर उनकी संख्या तीसरी, डीपो से बिक्री होकर निकाली हुई लकड़ियों की संख्या और स्टॉक भी कबी नहीं मिलता।"[1]

3.5 राजनीतिक नेताओं की अमानवीयता

वर्तमान संदर्भ में राजनीतिक संकीर्णता और स्वार्थपरता ने अनुशासन हीनता को जन्म दिया। समकालीन राजनीति के क्षेत्र में इस ने तो अपराधीकरण का रूप ले लिया। सीमित अर्थों में अपराधीकरण को परिभाषित करना असंभव है। इसके अंतर्गत रिश्वत, अनैतिक दबाव, गुण्ड़ागर्दी, शारीरिक, आर्थिक, मानसिक आदि कई प्रकार के शोषण आदि सम्मिलित है। व्यापक स्तर पर अनैतिक हेरा-फेरी करनेवाला भी अपराधी ही है। आज राजनीति का अपराधीकरण दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

नरेन्द्र मोहन के अनुसार राजनीतिक अपराधीकरण का मतलब है - 'राजनीति में आगे बढ़ने व सत्ता हथियाने के लिए अपराध का प्रयोग ही राजनीति को अपराध प्रधान बना देता है। जब राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं

1. मनमोहन पाठक -गगन घटा घहरानी, पृ. 37

की पूर्ति के लिए अपराध का सहरा लेना राजनीति का अंग बन जाता है तो इस स्थिति को ही राजनीतिक अपराधीकरण की संज्ञा दी जाती है।"[1]

प्रतिदिन बढ़ती राजनीति में हो रहे अपराधीकरण को समकालीन आदिवासी उपन्यासकारों ने प्रकाश में लाते का प्रयास किया है। अल्माकबूतरी में लेखिका कहती है, "धन और सत्ता की माया सर्वत्र फैली है। ताकत से तकदीर बने न बने सत्ता बनती है। सत्ता के बिना पत्ता नहीं हिल सकता।"[2]

कपट राजनेताओं की तरह 'अल्मा कबूतरी' में सशक्त व्यंग्य किया गया है। स्थानीय राजनीतिक पार्टियों के द्वारा कबूतरा समाज के उत्त्रर्ष की बातें करनेवाले अधिकारी वर्ग का मूल उद्देश्य वोट-प्राप्ति है। चुनाव के वक्त वोट हासिल करने केलिए राजनेता क्या-क्या करते हैं, इसका चित्र 'धीरज' के संवाद से समझ सकते है। उपन्यास का धीरज कहता है, 'आतंक इन्हीं बातों से बनता है-वरन् जनता डरे? आतंक की योग्यता है। सूरज भान ने कांग्रेस की सभी में बम न फोड़ा होता तो राजनीति में उसकी भर्ती होती? परसराम को पार्टी में पदवी तब मिली, जब उनके बी.जे.पी के दो नेताओं को चाकू से हलाल कर दिया था.. आज जिसके कहने पर छुरा दिखाया वह कल उसी के वोटरों वाली हरिजन बस्तियों में आग लगा देते ।"[3]

जंगल जहाँ शुरु होता है' में वोट प्राप्त करने केलिए आदिवासियों का

---

1. नरेन्द्र मोहन - समकालीन कविता के बारे में, पृ. 98
2. अल्माकबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 72
3. वही - पृ. 265

इस्तेमाल करनेवाले राजनीतिक दलों का पर्दाफाश है। वोट प्राप्त करने केलिए आदिवासियों को खुश किया जाता है और इस केलिए 'डाकू" की मदद ली जाती है। उपन्यास में यह भी उल्लेख किया गया है कि 'मंत्री जी के यहाँ पुत्री के विवाह में पुलिस भी पहुँचती है और डाकू भी। यहीं पर पुलिस अधिकारी कुमार दो डाकुओं का खात्म करता है। जिस पर डाकू परशुराम क्रोधित होकर पुलिस अधिकारी कुमार को आदाह करता है कि तुम्हें मंत्री जी के यहाँ डाकू मारने की परमीशन नहीं थी। तुम्हारी गलती की सजा तुम्हें भुगतनी पड़ेगी।"[1] इस प्रकार भ्रष्ट मंत्रियों के व्यवहार उपन्यास में चित्रित है - ऐसे ही लोग मंत्री होते हैं। जिन्हें शुद्ध-शुद्ध बोलना भी नहीं आता। न सलीका न शउर, न ज्ञान न आत्मसम्मान। तीन-तीन बार कुत्ते की तरह प्रधान मंत्री, निवास पर भेंट लेकर हाजिरी देने जाना, ताकि कुर्सी बची रहे। फाइलों पर जरा भी ध्यान नहीं। कितने दयनीय थे मंत्री जी।"[2]

जिस समाज में अधिकतर लोग अपने पेट भरने के लिए तड़पते हैं उस समाज में नेता लोग सुख लोलुपता केलिए सरकारी छत का खर्च कर लेते हैं। आम जनता के बारे में न सोचने वाले राजनेताओं के कपट करतूतों पर 'अल्मा कबूतरी में प्रकाश डालते हैं- "राजमहल पनप रहे हैं। राजाओं के विलासी भवन प्रजा पर सदा भारी पड़े हैं। विलासिता और संघर्ष में सदा ही जीत पर झपट्ट मारती रही।"[3]

1. अल्माकबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 265
2. संजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 40
3. अल्मा कबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 306

सरकारी दफ्तरों में काम करनेवाले असंख्य प्रशासनिक अधिकारी एवं कर्मचारी गण आदिवासी लोगों को अनदेखा कर लेते हैं। कानून अधिकारों से भी वंचित है ये लोग। 'समर शेष है' उपन्यास के पात्र 'सोबरन' गाँव का पहला पढ़-लिखा व्यक्ति था जो स्कूल का शिक्षक बना था। महाजनी शोषण के खिलाफ आवाज़ उठाने के कारण 'विष्टु साव वहाँ के ज़मीन्दार सोबरन की हत्या कराते हैं। गुनेकार के बारे में जानते हुए भी अधिकारी वर्ग सच्चाई का नजर अन्दाज़ कर लेते हैं। राजनीतिज्ञों के इस अंधेपन के सामने सोबरन की पत्नी प्रश्न चिह्न डालती है और कहती है, मैं समझ चुका हूँ इस कोर्ट कचहरी पुलिस थाना से मुझे न्याय नहीं मिलनेवाला। हत्यारों को सजा नहीं मिलने वाली। मेरा इन पर विश्वास नहीं रहा।"[1]

राजनीतिज्ञों की कपटता की ओर प्रकाश डालने वाला ओर एक प्रसंग भी है - समर शेष है का 'बाबा' शिक्षा से कहते हैं 'और जानते हो शिबू ऐसा क्यों? उसका कनून कहता है सभी मनुष्य समान है। सब को जीने का समान अवसर मिलना चाहिए। लेकिन व्यवहार में वे मानते हैं कि कुछ लोग बड़े हैं, कुछ लोग छोटे है और बड़ों को छोटों के शोषण का अधिकार है। और यदि छोटे लोग इसका विरोध करते हैं तो उनका कानून, उनकी पुलिस और कोर्ट-कचहरी उनकी रक्षा के लिए आ खड़े होते हैं।"[2]

राजनीतिक अधिकार और शासक वर्ग हमेशा आदिवासी लोगों का

1. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 104
2. वही - पृ. 104

नज़रअंदाज़ करते हैं। 'मरंगा गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में जंगल और ज़मीन केलिए आंदोलन करते वक्त आदोलनकारियों को यह स्पष्ट महसूस होता है कि- "हमें दुख इस बात का है कि सरकार हम आदिवासियों की इन तमाम गतिविधियों को कानून व्यवस्था भंग किये जाने के नज़रिए से देख रही है। इसके नेपथ्य में छिपी हमारी सामाजिक आर्थिक समस्याओं को बिलकुल नज़रअंदाज़ कर रही है।"[1]

अधिकारी वर्ग हमेशा अपनी स्वार्थता की पूर्ती करना चाहते हैं। इस केलिए गाँव के निरीह लोगों के जीवन की दुर्घटनाओं और अंधविश्वासों को भी हथियार बनाते हैं। मरंग गोड़ा के राजनीतिक नेताओं ने जो कुछ किया है वे सब अपने लाभ केलिए हैं। यह जान लेने पर 'सगेन' राजनीति से विमुख हो जाता है। मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' में उपन्यासकार राजनीतिक वर्ग की भ्रष्टता का पर्दाफाश करते हैं - 'अपराधियों और असामाजिक तत्वों से समाज को मुक्ति दिलाने के नाम पर 'ग्राम रक्षा दल' की स्थापना की गयी और इस दल के लोगों ने 'चोर काटो, डाइन मारो' का नारा देते हुए न सिर्फ चोरों को, बल्कि तथाकथित डाइनों को भी मारना काटना आरंभ कर दिया। उन्नीस सौ तिरासी से आरंभ हुई इस जघन्य कार्रवाई में सैकड़ों स्त्री, पुरुष और बच्चों को मार डाला गया। समूचे सारंडा, कोल्हान, पोराहाट क्षेत्र में तो ये घटनाएं होते की लगीं, आस-पास के इलाके भी इससे अछूते नहीं रहे। चोर और डाइन बताकर कई लोग अपने पुराने दुश्मनों को खत्म करने लगे।

1. महुआ माजी - मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, पृ. 117

उनकी संपत्ति हड़पने लगे। सबसे ज़्यादा और नृशंस घटनाएं कराइकेला टोन्टो, मंझरी, सोनुवा आदि इलाकों में हुई। समाज के शुद्धिकरण के नाम पर आम लोगों के साथ साथ नेताओं द्वारा भी किए जा रहे इस कुकृत्य से सगेन को उस इलाके की राजनीति से विमुख कर दिया।"[1]

'पहाड' नामक उपन्यास में पहाडी इलाके में चलने केलिए रास्ता बनानेवाले 'दशरथ माझी' को धमकी देते हैं। जब दशरथ माझी ने गाँव के पहाड़ कार के रास्ता बनाने का निश्चय किया तो अधिकारी वर्ग उन्हें रोकने के कई उपाय ढूँढ लेते हैं। उपन्यास में बबूली सिंह मुखिया से कहता है कि -"अगर रोकना चाहते हैं उस पर केस कर दीजिए। पहाड तो सरकार का है। परमिसन थोड़े लिया है वह दरोगा जी आप के मित्र हैं, डी. एस पी. आपके अपने हैं। चार डंडा चूतर पर मारेंगे, जाकर मोहराज के खों...छा में थुका जाएगा। संकट खत्म ।"[2]

आज राजनीति में अपराधी लोग विराजमान है। जो अपने जीवन में मार-मार, लूट, डकैती, आदि करते हैं वे ही आज मन्त्री पद प्राप्त कर विधान सभा की शोभा बढ़ा रहे हैं। 'अल्मा कबूतरी' उपन्यास में श्रीराम शास्त्री, सूरजमान, परसराम, सीताराम चेयरमैन सभी ऐसे ही नेता हैं जिन्हें रूतबा और राजनीति में स्थान उनकी अपराधिक प्रवृत्ति के कारण ही प्राप्त हुआ है। यह 'सच्च' 'दारज' और उसके पिता के आपसी संवाद से समझ

---

1. महुआ माजी - मरंग गोडा नीलकंठ हुआ, पृ. 126
2. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 196

सकते हैं - 'देखो सीताराम चेयरमैन जो तुम्हारे संग ही पढ़े है, काँग्रसी होकर मस्जिद गिराने का ठेका लिये है। मन्दिर दुड़वाने का एड़वाँस जेब में लिए घूमते है। उनका कायाकल्प जो हुआ है उनकी दादा गिरी के कारण हुआ है।"[1]

3.6 वननियम और आदिवासी जीवन

सामान्यतः बनोपज से ही आदिवासियों की आजीविका चल रही है। 'जियो और जिने दो' को महत्व देनेवाले आदिवासी लोगों में जंगल के प्रति आस्था है। अपना अस्तित्व ही जंगल है माननेवाले इन लोगों के लिए जंगल कानून और विविध अधिनियम जो है समस्याओं का कारण बन जाता है। इस संबंध में विजय प्रताप का कथन उल्लेखनीय है कि- "उन कानूनो को भी बदला जा रहा है, जो अभी तक देश के आठ करोड़ आदिवासियों के अधिकारों और आजीविका की रखवाली करते थे।.. वन कानून आदिवासियों को अनेक ऐसे लघुवनोपयोगों का हक प्रदान करते हैं, जिनका उनके जीवन में बहुत महत्व है। अब इन कानूनों की जगह भी अधिक बाज़ारोन्मुख कानून लाए जा रहे हैं।"[2]

आदिवासियों का रिश्ता वन या जंगलों से है। आदिवासी शब्द की अवधारणा, उनकी आस्मिता जंगलों से परिभाषित होती है। जब भी किसी बाहरी सत्ता ने उन्हें जंगलों से बेदखल करने की कोशिश की, जंगलों को

1. अल्मा कबूतरी - मैत्रेयी पुष्पा, पृ. 61
1. सागर तिवारी - प्रतिमान, जुलाई - दिसंबर, 2018, सैंद्धातिक बहस और फील्ड की आवाजे

छीनने की कोशिश की - आदिवासियों ने अपनी जान पर खेलकर जंगलों को बचाया है। आदिवासी जीवन में वन या जंगल का महत्व माननेवाले शासक वर्ग वन अधिकार अधिनियम (अनुसूचित जनजाति और अन्य परंपरागत वन निवासी (वन-अधिकारों की मान्यता) अधिनियम 2006 को मानते है। अधिनियम के परिचय में इसका उद्देश्य भी स्पष्ट कर दिया गया है - 'वन में निवास करनेवाली ऐसी अनुसूचित जनजातियों और अन्य परंपरागत वन निवासियों के जो ऐसे वनों में पीढ़ियों से निवास कर रहे हैं, किंतु उनके अधिकारों को अबिलिखित नहीं किया जा सका है, वन अधिकारों और वन भूमि में अधिभोगकी मान्यता देने और निहित करने केलिए यह अधिनियम बनाया गया। यह अधिनियम 31 दिसंबर 2007 से लागू माना गया और इसका संशोधित रूप 6 दिसंबर 2012 को प्रकाशित हुआ।

अधिनियम के अंतर्गत आदिवासियों को निवास केलिए जीविका एकलिए व्यक्तिगत, सामूहिक उपयोग केलिए अधिकार दिया गया। लेकिन वर्तमान संदर्भ में सरकार जंगलों से आदिवासियों को बेदखल करने का प्रयास कर रही है। 'समर शेष है' उपन्यास में जंगल से बेदखल होने की दुर्दशा का चित्रण 'मजीत' के शब्दों में हुआ है। पहले गाँव के इक्का-दुक्का लोग ही बाहर काम की तलाश में जाते थे। लेकिन पिछले कुछ वर्षों से 'धनकटनी' के बाद बड़ी संख्या में लोग काम करने बाहर जाने लगे हैं। गाँव में जीवन-यापन के संसाधन सिमटते जा रहे हैं। पहले परिवार में सदस्यों की

संख्या बढ़ी तो जंगल काटकर नई ज़मीन बना ली जाती थी। लेकिन अब जंगल उनका नहीं रह। ठेकेदार चाहे जंगल का जितना भी दोहन कर ले, लेकिन आदिवासी यदि अपनी ज़रूरत के लिए जंगल साफ करना चाहें तो वन विभाग के सुरक्षा गार्ड पकड लेते हैं। चालान कर जेल भेज देते हैं। और कानूनी लड़ाई नहीं लड़ पाने की वजह से वे वर्षों जेल में सड़ते रहते हैं। कोई पूछनेवाला नहीं।"[1]

जंगल के प्रति घनिष्ठ संबंध रखनेवाले आदिवासियों के प्रति मुख्यधारा समाज के दृष्टिकोण है असभ्य। 'पहाड' नामक उपन्यास में 'महीपत' नामक पात्र से पता चल सकता हैं कि - "इन सालों के बाप-दादे जंगल में रहते थे। इनको आज भी लगता है कि जंगल इनकी बपौती है। कितना भी समझाओ, इनको समझ में ही नहीं आता कि जंगल अब इनके बाप का नहीं सरकार का है।"[2]

अंग्रेज़ों के समय से ही जंगल से बाहर करने का प्रयास ज़ारी रहा है। 'धूणी' तपे तीर' में इस यथार्थ का वर्णन यों व्क्त किया गया है- "जंगल के पेड़ों और अन्य वनस्पतियों ने परंपरागत रूप से आदिवासियों को बहुत कुछ दिया था। दिया क्या? उनका जीवन ही इन पर आश्रित रहा। अब हालात बदल गए थे। सरकार द्वारा लागू की गयी वन-नीति और कानून कायदों के कारण वनोपज पर आदिवासियों का अधिकार समाप्त कर दिया गय था।"[3]

1. विनोद विश्व कर्मा - समर शेष है, पृ. 23
2. पहाड निलय उपाध्या, पृ. 131
3. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 280

विकास के नाम पर सरकार द्वारा अनियंत्रित वन अधिरोपन के कारण दिन-प्रतिदिन नाशोन्मुख स्थिति भी है जंगल और यहाँ के जीव-जन्तुएँ । मनमोहन पाठक द्वारा लिखा गया गगन खटा घटरानी में फॉरेस्ट आफसर सुरेश गुप्ता के विचार में इसका उल्लेख है। 'वन तेजी से कट रहे हैं, किसिम-किसिंम के रासायनिक कारखानों, अणु-आयुधों से विश्व का पर्यावरण असन्तुलित होता जा रहा है। टाम्य प्राणियों की संख्या में ह्रास हुआ है। कई नस्ले तो बिलकुल समाप्त हो गई हैं।"[1]

जंगल और जंगल के संसाधनों को बेचकर भूमाफिया अरबपति बनता जाता है और आदिवासी उनके समने ही लाचार, निराधार और निस्सहाय बनकर दुख सहते रहते हैं। इसके बारे में आदिवासी लेखक ग्लैडसन डुंगडुंग अपना मत यों व्यक्त किया हैं - 'देश में ऐसा कौन-सी परिस्थिति थी, जिसने सरकार को भूमि अधिग्रहण अध्यादेश लाने को मज़बूर किया? अध्यादेश के द्वारा केन्द्र सरकार कौन से विदेशी पूँजीनिवेश को सुनिश्चित करना चाहती थी?"[2] राजनीतिक अधिकारी और शासक वर्ग हमेशा आदिवासी लोगों का नज़रअंदाज करते हैं मरंग गोडा नीलकंठ हुआ सन्यास जंगल और ज़मीन केलिए आंदोलन करते वक्त आन्दोलनकारियों को यह स्पष्ट महसूस हुआ है कि 'हमें दुःख इस बात का है कि सरकार हम

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 38
2. ग्लैडसन डुंगडुंग, जमीन लूट की गारंटी देता भूमि-अधिग्रहण अध्यादेश, युद्धरत आम आदमी, सितंबर, 2015, पृ. 49

आदिवासियों की इन तमाम गतिविधियों को कानून व्यवस्था भंग किये जाने के नज़रिए से देख रही है। इसके नेपथ्य में छिपी हमारी सामाजिक आर्थिक समस्याओं को बिलकुल नज़रअंदाज़ कर रही है।"[1] शासन व्यवस्था में आम जनता या आदिवासी लोग की जीवन का कोई महत्व नहीं है।

इसी उपन्यास में आदिवासी जीवन को नज़रान्दाज़ रखते हुए विकास योजनाएँ शुरू करने वाले विकास योजनाएँ और अधिकारी वर्ग के प्रति 'सगेन' अपने प्रतिरोध व्यक्त करते हैं 'सगेन सोचता, ऐसा कैसे हो सकता है कि किसी नेता को किसी अफसर को, या इलाके के किसी उच्च शिक्षित व्यक्ति को विकरण और उसके दुष्प्रभाव के बारे में पता हीन हो? यह कैसा षड्यंत्र है? आखिर क्यों कहा यहाँ के अशिक्षित अल्प शिक्षित आदिवासियों को इतनी बड़ी और भयानक सच्चाई से अब तक अनजान रखा गया? क्यों उन्हें सावधान नहीं किया गया? क्यों नहीं बताया गया कि खदान से विस्फोट करके निकाल गये युरेनियम अयस्क वाले पत्थरों से धुल-धुलकर आते बरसाती जल के कारण उनके कुओं, तालाबों और नदी के पानी में उनकी मिट्टी में उनके खेतों की फसल में जहर धुल चुका है?"[2] इस प्रकार अपने ऊपर होनेवाले समस्याओं के विरुद्ध सचेत करने वाले, संघर्ष करने वाले एक सशक्त पात्र है 'पावं तले की दूब में' सुदीप्त प्रसाद। वे बताते हैं - 'ये सदियों से उपेक्षित आदिवासी-बहुल संप्रदाय के अधिकार और इज्जत की

1. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 117
2. वही - पृ. 163

लडाई है। दरअसल पृथक झाकखण्ड राज्य की मांग आज की नहीं, जयपालसिंह के नेतृत्व से भी पहले इसकी जडें इस क्षेत्र के जुझारू कोल, मुण्डा, संथाल औरांव, बाउरी, भुइयां आदि आदिवासी जातियों की सदियों पुरानी संघर्ष-परंपरा में हैं। अपने देश के किसी भी राष्ट्रीयता के आन्दोलन से ज़्यादा राष्ट्रीय है यह!....अगर आप यह सोचकर घृणा करते हों कि कि ये काले हैं, तो आप खुद क्या हैं गोरों की नज़र में? फिर आप में और नस्लवादी गोरी अफ्रीकन अमेरिकन जातियों में फर्क कहाँ है?"[1]

वन संपत्ति को लूटने वाले अधिकारी या शासक वर्ग नये-नये वन नियमों को लागू करते हुए मूलवासियों को जंगल से खदेड़ने का कार्य आज़ादी के बाद शुरु किया। वह आज बी ज़ारी रही है। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ' हुआ नामक उपन्यास में बाबा सगेन से उस समय के यादें इस प्रकार प्रकट किया हैं 'तभी तो इलाके में बाहरी अधिकारी, कर्मचारी, नेता, ठेकेदार और विचौलियों की भरमार हो गयी। कॉरपोरेशन औप सरकार की संपत्ति को निजी संपत्ति समझकर वे निर्ममता से जंगल को लूटने लगे और सदियों से जंगल पर आश्रित हम गरीब आदिवासी अपने घरेलू उपयोग की रोज़मर्रा की सामान्य 'चीज़ों से भी वंचित कर दिए गए। हमारा घरेलू उद्योग तहस नहस हो गया।"[2] यहां आदिमानव से लेकर आधुनिक पीढी तक आते-आते जंगल और ज़मीन को पूरी तरह लूटने वालों के हाथ में हो गयी। लूटते-लूटते जीने लायक कुछ भी शेष नहीं हो गया है जंगल में। इस सच्चाई

1. संजीव - पांवतले की दूबा, पृ. 46
2. महुआ माजी - मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 113

का यहाँ देख सकते है। संजीव का उपन्यास 'पाँव तले की दूब' में औद्योगिकीकरण के कारण विस्थापित होने वाले आदिवासियों के विवशता देख सकते है। वन नियम और शासक वर्गों द्वारा जंगल में जाना मना करने के कारण आदिवासियों के आर्थिक स्थिति कैसे गिर जाते है। इसका चित्रण है। 'पर अन्याय देखो, आदिवासियों को जिनकी ज़मीन पर ये कारखाने लग रहे हैं, उन्हें टोटली डिप्राइव किया जा रहा है। इस संपत्ति में उनकी भागीदारी खत्म की जा रही है, उन्हें ज़मीन से भी बेदखल, किया जा रहा है मुआवज़ा भी अफसरों के पेट में"[1]

निष्कर्ष

राजनीति का हस्तक्षेप मानव जीवन की बुनियादी ज़रूरतों के क्षेत्रों में भी पहुँच गया है। पर अपने वास्तविक मकसद से कोसों दूर हो गया है। उसमें सच्चाई का अंश न के बराबर है। अन्याय एवं अत्याचार का रूप धारण करके राजनीति आज अमानवीयता का पर्याय बन गयी है। इस नकारात्मक स्थिति को यह पहचानते हुए साहित्य जनता की मुक्ति के लिए संघर्ष का रास्ता तैय्यार कर रहा है। उस संघर्ष का परिणाम है समकालीन संदर्भ के विमर्श। प्रत्येक विमर्श अमानवीयता के खिलाफ का संघर्ष है। आदिवासी साहित्य विशेषकर समकालीन आदिवासी उपन्यास राजनीति में व्याप्त हुआ अंधकार के प्रति अपना सख्त विरोध जाहिर कर रहा है।

---

1. डॉ. स्वाती नारखडे - हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श, पृ. 19

अर्थ और राजनीति के सम्मिश्रण से आज जो विकास की नीतियों बना रही है वह आदिवासी जीवन को इतना कष्ट देती है उन्हें अपना अस्तित्व ही कष्ट हो रहा है। विकास का अर्थ आदिवासी केलिए मात्र आर्थिक संपन्नता नही है। बल्कि अपनी पहचान और स्वीकृति भी है। लेकिन आज विकास के नाम पर राजनीति में अनैतिकता ही बढ़ती जा रही है। वह आदिवासियों केलिए खतरनाक स्थिति पैदा कर रही है। समकालीन आदिवासी उपन्यास इस खतरे से सजग करा रहे हैं साथ ही उससे उबरने के रास्ते दिखा रहे है। सचमुच आदिवासी उपन्यास उनके प्रतिरोध के दस्तावेज़ है। उन्होंने अपने दुश्मनों को पहचान किया, अपने जीवन में व्याप्त अंधकार को पहचान लिया। इनमें खिलाफ के संघर्ष का दस्तावेज़ है आदिवासी विमर्श इस संदर्भ में समकालीन आदिवासी उपन्यास का अपना दायित्व निभा रहे हैं। राजनीति उनके लिए आवश्यक है लेकिन सकारात्मक ढंग से। जो नकारात्मक राजनीति वर्तमान है उससे वे परिचित हो गए हैं और उसकी असंगतियों से अवगत भी। इस समझ का भी परिणाम है आदिवासी विमर्श।

❖ ❖ ❖

चौथा अध्याय

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासियों का विस्थापन

समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आादिवासियों का विस्थापन

4.1 विस्थापनः अर्थ एवं परिभाषा

जंगल आदिवासी समाज का धरोहर है। जंगल से अलग उनकी कोई जीवन शैली नहीं। क्योंकि उनके जीवन का आधार ही जंगल है। वह उन्हें सब कुछ देता है। जीवन की सुरक्षा, आर्थिक सुरक्षा, सांस्कृतिक सुरक्षा आदि प्रदान करने में जंगल के बिना उनका कोई दूसरा आश्रय नहीं।

लेकिन वे तो जंगल को सुरक्षित रखते हुए अपने बनाए रखने के पक्ष में है। वे जंगल को पालते हैं और जंगल उन्हें भी। इस पारस्परिक रिश्ते को तोडते हुए वर्तमान संदर्भ में आदिवासियों को जंगल से निकाल देने का षड्यंत्र चल रहा है । इसमें सरकार है, बहुराष्ट्र कंपनियाँ है तथा वर्तमान राजनीतिक दल भी है। इसलिए आदिवासियों का वर्तमान संकट में है। इस संकट की स्थिति में उन्हें विभिन्न कारणों से विस्थापित होना पडता है। यह उनके जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी भी है। परिणामतः उनका सब कुछ नष्ट हो जाते है याने कि सुरक्षा, अस्मिता, संस्कृति, आवास व्यवस्था, आर्थिक स्थिति सब कुछ। ऐसे संदर्भ में आदिवासियों को अधूरा, अभावग्रस्त, शोषणग्रस्त जीवन बिताना पडता है। इस त्रासद स्थिति से अवगत रचनाकार उनकेलिए एक ओर वकालत करते है तो दूसरी ओर आदिवासी रचनाकार खुद सच्चाई से अवगत होकर उनकी अपनी अस्मिता केलिए सृजनात्मक

संघर्ष करते हैं। यही सचमुच आदिवासी विमर्श है याने कि उनके यथार्थ की सही पहचान है।

मुख्य धारा समाज की आर्थिक लाभ को लक्ष्य करके बननेवाली विकास योजनाएँ आज आदिवासी जीवन का एक मात्र आश्रय 'जंगल' को उनसे छीन लेने का प्रयास कर रही हैं। आदिवासी क्षेत्रों में होनेवाली विकास योजनाओं से लाभान्वित होनेवाले हैं मुख्य धारा समाज, सारे नुक्सान भोगने केलिए अभिशप्त है आदिवासी लोग। वे विस्थापित हो जाते हैं। मानव जीवन की सबसे बडी त्रासदी उसका विस्थापन ही है। किसी न किसी रूप में पहले से ही विस्थापन कई कारणों से मौजूद थे। पुराने-ज़माने में कृषि योग्य स्थान, निवास स्थान और जल की लभ्यता आदि के अनुसार एक स्थान से दूसरे स्थान की तरफ पलायन करते थे आदिवासी। पर अंग्रेज़ी शासन और ठेकेदारों के शासन के समय आदिवासियों को अपना अधिकार ज़माने केलिए विस्थापन करना पडा है। लेकिन आज के स्वतंत्र भारत का विस्थापन उससे बिलकुल भिन्न है उसके केन्द्र में विकास के नाम का भीषण षड्यंत्र निहित है।

जल, जंगल, ज़मीन को जीवन का आधार माननेवाले आदिवासियों के साथ होनेवाले विस्थापन से मात्र निवास स्थान ही नहीं खदेड़ा जाता बल्कि जीने योग्य अवास व्यवस्था, प्रकृति और संस्कृति भी हडप लिए जाते हैं। वे आश्रयहीन बन जाते है। अभी तक जो कुछ व्यावहारिक ज्ञान, परंपरा और मूल्य जंगल और उनके पुरखों से वे हासिल करते आए थे वे सब कुछ छीनने

वाली शक्ति बन गया है विस्थापन। आज विकास की सीढ़ियों पर चढ़ते समय आदिवासियों को विस्थापन से अपनी संस्कृति, प्रकृति और अस्मिता को नष्ट करना पड रहा है। समकालीन आदिवासी केन्द्रित उपन्यास विकास के नाम पर होनेवाले विस्थापन कैसे आदिवासी समाज को जीते जी मृत्यु तुल्य बनाते है इसका यथार्थ तस्वीर हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं।

4.2 आर्थिक नीतियाँ और विकास योजनाएँ

हमारा देश दिनों दिन विकास की तरफ बढ़ता जा रहा है। विकास को सामान्यतः एक सर्वसमावेशी एवं सर्वहिताय के रूप में देखा जा सकता है। विकास का लक्ष्य हमेशा मानव कल्याण है। इसलिए प्रोफेसर अमर्त्य सेन का विचार इस संदर्भ में महत्वपूर्ण है। उनका कहना है कि 'विकास का अर्थ है मानव की मूलभूत योग्यताओं का विस्तार जैसे दीर्घ जीवन जीने की योग्यता लिखने पढ़ने की योग्यता, बीमारियों से बचने की योग्यता, लिंग भेद की चिंता किए बगैर घर से बाहर काम करने की योग्यता तथा सरकारी एवं प्रतिकूल राजनीति में सहभागिता की योग्यता अर्थात् अपने इच्छानुकूल जीवन जी पाने की योग्यता।"[1] लेकिन समकालीन संदर्भ में विकास मानव कल्याण के बदले कुछ लोगों के हाथ में सीमित हो गया। अर्थात् आज विकास का मतलब सर्वसुखाय नहीं है। सीमित अर्थ में विकास की अवधारणा आज फैल रही है। आज के समय में विकास का मतलब है बिजली परियोजना, सिंचाई के नाम पर भीमकाय बाँध परियोजना, कारखानों के लिए

---

1. डॉ. पद्मजा सेन आदिवासी स्वर, विकास का समावेशी दर्शनः आदिवासी संदर्भ, पृ. 71

कच्चे माल का दोहन आदि। याने कि 'आज विकास का मतलब बड़े उद्योगों, बहुराष्ट्र कंपनियों विशाल बाँधों और खाती-पीती, महँगी पोशाकों आदि जीवन की सुख-सुविधाएँ भोगती आबादी को विकास का पर्याय मान लिया गया है। यद्यपि आर्थिक संपन्नता एवं सुख-सुविधाओं का प्राचुर्य उपलब्ध कराने में विकास की भूमिका को अस्वीकार नहीं किया जा सकता लेकिन सिर्फ इन्हें ही वास्तविक विकास मान लेना संभवतः विकास की मूल भावना को नहीं समझ पाना है"[1] विकास की प्रस्तुत अवधारणा में केवल आर्थिक संपन्नता पर केन्द्रित विकास को देखने की प्रवृत्ति है। विकास की संकीर्ण अवस्था से पृथक् एक अवधारणा डॉ. पद्मजा सेन दो विकास प्रारूपों को हमारे समक्ष रखती हैं - "अब तक हमने इसको दो प्रमुख एवं भिन्न प्रारूपों को देखा है। पूँजीवाद तथा समाजवाद। पूँजीवाद प्रारूप में जहाँ तकनीकी प्रगति, औद्योगीकरण, सकल राष्ट्रीय उत्पाद में वृद्धि, प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि, आधुनिकीकरण आदि पर ज़ोर दिया जाता है, वहीं समाजवादी प्रारूप में तकनीकी, आर्थिक नियंत्रण, उत्पादन के संसाधनों का केन्द्रीकरण तथा समस्त संसाधनों का राज्य द्वारा नियंत्रण। लेकिन दुर्भाग्यवश संतोषजनक रूप में जनसाधारण की समस्याओं के समाधान एवं उनके जीवन स्तर को ऊपर उठाने में दोनों ही प्रारूप असफल रहे हैं।"[2] इस संदर्भ में विकास का अर्थ यह होना चाहिए कि अपने इच्छानुसार जीवन जी पाना, अपनी सत्ता, अपनी पहचान की सचेतन अभिव्यक्ति करने का अवसर,

---

1. डॉ. पद्मजा सेन आदिवासी स्वर, विकास का समावेशी दर्शनः आदिवासी संदर्भ, पृ. 36
2. वही, पृ 38

क्योंकि विकास से तात्पर्य अपनी तलाश है, अपने स्व को पाने और स्थापित करने का आनंद है। इससे ही अपने-आप होने की योग्यता का विस्तार संभव हो जाएगा, वह चाहे व्यक्ति का हो या समुदाय का। आज विकास योजनाओं ने हाशिएकृत समाज को अपने होने की योग्यता से वंचित कर रखा है। आदिवासी समाज इसका सबसे अधिक शिकार होनेवाला समाज है।

विकास योजनाओं की नींव हमेशा आदिवासी समाज में ही डाली जाती है। विकास आदिवासी समुदाय केलिए केवल आर्थिक संपन्नता नहीं है साथ-साथ अपनी पहचान की स्वीकृति और उसकी स्थापना भी है। क्योंकि उनके लिए व्यक्ति विकास से ज़्यादा समुदाय का विकास महत्वपूर्ण है। विकास के नाम पर आदिवासी समाज में होनेवाले अत्याचारों का सिलसिला गंगा सहाय मीणा ने इस प्रकार व्यक्त किया है - 'दो दशक पहले भारत सरकार द्वारा अपनाई गई उदारवादी आर्थिक नीतियों ने विभिन्न क्षेत्रों में विदेशी निवेश का रास्ता खोल दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि देशी-विदेशी कंपनियों द्वारा देश के प्राकृतिक संसाधनों का अंधाधुंध दोहन शुरु हुआ। हज़ारों बरसों से देश के मूल निवासियों और उनके वंशजों के निवास स्थान यानी जंगल, नदियाँ, पहाड़ आदि बहुराष्ट्रीय कंपनियों के लिए मुनाफा कमाने का केन्द्र बन गए। कंपनियों द्वार इस संसाधनों को हड़पने में विभिन्न सरकारों ने इसमें मदद की।"[1] स्पष्ट है विकास के नाम पर वैश्वीकरण एवं निजीकरण ने आदिवासियों को अपनी ज़मीनों से बेदखल कर दिया। अपनी

1. गंगा सहाय मीणा, आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 42

सामूहिक पहचान और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत नष्ट होने की स्थिति में है, "उत्तर-आधुनिक समय में उत्तर औद्योगिक और नव पूंजीवादी अवस्था का भी विकास हुआ । इस कारण से कंपनियों ने विकास के नए केन्द्र बनाए और प्राकृतिक संसाधनों की तलाश में हमारे वनों को नष्ट करना शुरु किया। वर्षों से जो आदिवासी वन में रहता था और अपने आपको उसका 'स्वामी' मानता था अचानक उससे उसका घर ही छीन गया। औद्योगिक विकास के दावों में अनेक तरह का खोखलापन था। जिसमें आदिवासियों के पास खोखले वाद तो थे लेकिन वादों की पूर्णता का कहीं आता-पता नहीं था। अतः आदिवासी छला जाने लगा।"[1] समकालीन आदिवासी उपन्यासों में विकास योजनाओं और उसके फलस्वरूप होनेवाली दुर्घटनाओं को सशक्त ढंग से रेखांकित किया है।

विकास का स्वप्न दिखाकर आदिवासी समाज की ज़मीनों को तहस-नहस करनेवाले लोग आज बढ़ रहे हैं। 'पार' नामक उपन्यास में इसका जिक्र हैं - 'सरकार कहती है हम अभयारण्य बनाएँगे। लड़ैई का जीरोन को वापस गुरीला पर बसाएँगे। पुराने ज़माने के ढंग का रहना-सहना रखेंगे ताकि भविष्य में पर्यटक आकर देख सकें कि प्राचीन काल में यहाँ लोग किस तरह रहते थे। यानी वहाँ विकास की किरणें नहीं पहुँचने दी जाएगी। लोगों को संग्राहालय की अजायबघर की वस्तु बनाया जाएगा। जैसे खजुराहो में किया गया है। जैसा भोपाल में भारत भवन में किए जाने के प्रयास चल रहे हैं।

1. विनोद विश्व कर्मा - उत्तर आधुनिक और आदिवासी विमर्श, पृ. 8

यानी अब संस्कृति चलायमान नहीं, कहीं कहीं विद्युमान रहेगा स्थापत्य की वस्तुओं की तरह स्थिर स्थापित"[1] इस प्रकार हमारी आदिम संस्कृति को भी विकास के नाम पर अपसंस्कृति बनाने की साजिश आज चल रही है।

'जहाँ खिले है रक्त पलाश' नामक उपन्यास में 'पलामू' नामक आदिवासी क्षेत्र में विकास के नाम पर होनेवाले कार्यकलापों से उनका जीवन कैसे विकराल रूप ले लेता है उसकी अभिव्यक्ति है, 'अब मकान, जलावन, कोयलेकन्थे के पीछे पगलायी है सरकार तो दनादन कटे है जंगल। निकल रही है परती ज़मीन। ज़मीनों के नये नये दावेदार सामने आ रहे हैं। धड़ाधड़ व्यापारी-कारखानेदार खरीद रहे हैं ज़मीन इस जंगल में... काहे...? काहे कि ज़मीन के नीचे ख़ज़ाना जो दबा है। दबी है कोयले, लोहे, अयस्क और जिस्म की खानें। सोये हैं तेल के तालाब।"[2] घने जंगल क्षेत्र कैसे विकास के कार्यकलापों से छिन्न-भिन्न हो गया है इसका यथार्थ है इसमें।

मुख्यधारा के विकास के लिए आदिवासी इलाकों को तहस-नहस करने के षड्यंत्र के प्रति 'पार' उपन्यास के पात्र 'माते' अपनी विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं - 'उस शहर की दीवारें मज़बूत बन सकें, इस केलिए तो इनके घर की भीठ मज़बूत नहीं होने दी सरकार ने। उसकी शोभा बढ़ा सके। इसलिए तो आभाहीन किया इनका पटव टपरा। इनके दरवाज़ों पर पर्दे झूल सके इसलिए तो झपट लिया इनके तन का इकलौता चीथड़ा।"[3] इन

1. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. 256
2. राकेश कुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्त पलाश, पृ. 252
3. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. 44

शब्दों में व्यक्त है विकास परियोजनाओं के पीछे का षड्यंत्र। विकास का लाभ हमेशा मिलता है सभ्य कहनेवाले मुख्यधारा समाज को। लेकिन इसके दुष्परिणाम को भुगतनेवाले हैं समाज के बाकी लोग। देश की कल्याणकारी प्रवृत्तियाँ एक पक्षीय है। इनका उल्लेख 'जहाँ खिले है रक्त पलाश' में है - 'चिकित्सा नहीं, शिक्षा नहीं, सड़क नहीं, बिजली नहीं, पानी नहीं, सिंचाई नहीं... सुविधा के नाम पर कुछ भी नहीं प्रखंड मुख्यालय में, पर राजधानी में इसे प्रखंड का दर्जा प्राप्त है। संभवतः अपवाद गिनाने के लिए ही थाना है भुवनपुर में।"[1]

आम जनता को खदेड़ कर की जाने वाली विकास योजनाओं से क्या फायदा है? विकास के लक्ष्य पर प्रश्न चिह्न डालते हुए 'पार' उपन्यास में उपन्यासकार पूछते हैं 'सरकार तो बाँध बनाने की योजना बनाकर घोषणा करके सो गई, कहीं और व्यक्त हो गई। महारानी साहिबा, यहाँ की सांसद यह खबर देकर रम गई अपने 'चिर विलास' महल में। विकास की संभावनाएँ ठप! गाँव आश्रित हो गया बनियों पर, साहूकारों पर, साव लोगों पर। नतीजा शिक्षा, विकास, शक्ति, धन, सब उनके। हिस्से आया और श्रम, इंतज़ार मायूसी शोषण के हिस्से।"[2] यहाँ सरकारी नेताओं पर तीखा व्यंग्य है। विकास के नाम पर होनेवाले खोखलेपन का नकाब उतार रहे हैं रचनाकार। विकास का मतलब क्या होना चाहिए ? यह प्रश्न आज सर्वत्र है। इस संधर्भ में 'विकास' का अर्थ है बदलना, इस ओर प्रकाश डालते हुए डॉ. मीना शर्मा का कथन है 'विकास के नाम पर आज विश्व में जो हो रहा है वह हम सभी

1. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. 121
2. राकेश कुमार सिंह - जहाँ खिले है रक्त पलाश, पृ. 44

के सामने है। विकास का जो मॉडल हमने बनाया है उसमें किसी स्थान या शहर का विकास इस बात पर सुनिश्चित होता है कि वहाँ कितने मॉल्स हैं, कितने मल्टीप्लेक्स हैं कितनी ऊँची-ऊँची बिल्डिंग्स हैं, कितने फ्लाइओवर्स हैं आदि आदि। इनमें कहीं हरियाली, पोड-पौधे, पशु-पक्षी आदि का कोई अस्तित्व नहीं है।"[1] तो यहाँ विकास का मतलब अपने सीमित अर्थ में है। व्यापक पैमाने पर सबको समावेशित करने की दृष्टि उनमें नहीं है। यह सब से बडी कमी है। यह विकास का विकलांग रूप है। यह माननीय नहीं।

4.2.1 विकास से उत्पन्न प्राकृतिक आपदाएँ

विकास योजनाओं से उत्पन्न पर्यावरण क्षति आज हमारे सामने की भीषण समस्या है। औद्योगीकरण, खनन, ऊर्जा संसाधन, आदि ऐसा क्रियाकलाप है जो विकास के नाम पर हो रहे हैं तो दूसरी ओर इससे जैविक संपदाओं को भी विनष्ट कर रहे है। क्योंकि विकास गलत तरीकों से कर रहे तो उसका परिणाम भी उल्टा हो जाएगा। भूकंप, बाढ़, सूखा आदि इसके परिणाम है।

इस संदर्भ में गाँधी जी ने प्रकृति और मनुष्य के परस्पराश्रय से होनेवाले विकास पर प्रकाश डालते हुए कहा है, 'मनुष्य प्रकृति का शोषण बन्द करे अन्यथा प्रकृति के प्रकोप का स्वरूप इसी तरह भीषण होगा। पृथ्वी के अंतर से पानी, लोहा, कोयला, सोना, चाँदी आदि खनिज पदार्थों को ज़रूरत से अधिक निकालकर पृथ्वी को खोखला बना रहे हैं। साथ ही पर्वतों से, पृथ्वी से, वृक्षों को काटकर पृथ्वी को नंगा कर रहे हैं। इससे ऑक्सीजन

1. डॉ. मीना शर्मा - हिन्दी साहित्य और पर्यावरणीय संवेदना - भूमिका से

का अभाव तो होगा ही साथ ही वर्षा से नदियाँ सारी मिट्टी समुद्र में ले जाएंगी और समुद्र ऊँचा होगा, पृथ्वी दबेगी तो भूकंप आएगा, जल प्लावन होगा प्रलय होगा।"[1] इससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक पर्यावरण और उसके संरक्षण के आधार पर ही विकास होना चाहिए। आदिवासी और प्रकृति के साथ संबंध अटूट है। प्रकृति पर होनेवाले अत्याचारों का दुष्परिणाम आदिवासियों पर भी हावी होगा।

विकास परियोजनाओं पर प्रश्न-चिह्न डालते हुए रमणिका गुप्ता का कहना है, - "आदिवासियों को आदिम जीवन जीने के लिए विवश कर सभ्यता से दूर रखने की साजिश भी इस बीच जारी रही और जारी रहा उनका शोषण दोहन। उनकी संस्कृति को न तो यहाँ के वासियों ने पनपने या विकसित होने दिया और न ही उसे आत्मसात कर मुख्यधारा में शामिल होने दिया। उल्टे हमेशा उन्हें असभ्य, आदिम या जंगली की पहचान देकर उनमें हीन भावना भरी जाती रही जिससे इन पर उनका वर्चस्व कायम रहे। फलस्वरूप आदिवासियों के समाज का विकास ठहर-सा गया, सोच का विकास रूक गया और रुक गया उनकी संस्कृति और भाषा का विकास।"[2] याने की अभी तक आदिवासियों के हितों के नाम पर किए जाने वाली विकास योजनाओं पर पुनः चिन्तन करने की आवश्यकता पर लेखिका ज़ोर देती है।

---

1. डॉ. डी.एन. चतुर्वेदी - तीसरी दुनिया का तीसरा रास्ता, पृ. 197-98
2. रमणिका गुप्ता - निज घरे परदेसी, पृ. 14

प्रकृति से निकटस्थ संबंध एवं प्रकृति के साथ प्रेम भावना जो है अन्य सभी संस्कृतियों से आदिवासी संस्कृति को पृथक कराती है। विकास के नाम पर करनेवाले प्राकृतिक संसाधनों का अनियंत्रित शोषण मानवीय जीवन पर सदा ही विपरीत प्रभाव छोड देता है। प्रकृति पर होनेवाले अत्याचारों से तड़पने वाले आदिवासी समाज को कई उपन्यासों में देखा जा सकता है। ऐसी योजनाओं में प्रमुख है जल विद्युत शक्ति उत्पादन और सिंचाई केलिए बांधों का निर्माण। 'आज़ादी के बाद बांधों के निर्माण का सिलसिला तेजी से शुरु हुआ ओर इन्हें स्वतंत्र भारत के नये देवालय बताया गया है।"[1]

आज़ाद भारत में बाँध परियोजना राष्ट्रीय उच्च मार्ग, रेलवे, लाईन, खनन व्यवसाय आदि कारणों से विस्थापन की समस्या हमारे सामने ताज़ा है। व्यक्ति की इच्छा के बगैर अपने रहने के स्थान हटाकर कहीं अन्यत्र ले जाकर बसाना विस्थापन है। इसलिए विस्थापन का अर्थ होता है अपने घर से उजाड दिया जाना। सचमुच घर का अर्थ सिर्फ मिट्टी-गारे की दीवारें नहीं है। घर का अर्थ होता है सुरक्षा का वह एहसास जो हमें जानवर से इंसान बनाता है। घर का अर्थ होता है अपने पूर्वजों की स्मृतियाँ जिसके साथ और जिनके स्नेह की छाया उनसे छीन ली गयी।"[2] आदिवासी यहाँ के मूलनिवासी होने के साथ प्रकृति पूजक भी है। प्रकृति को सब कुछ मानने वाले इन लोगों के लिए विस्थापन या जीवनाधार से बिछुडन कितना संकट देता है, संस्कृति को कैसे तहस-नहस कर दिया जाता है। ये इन्हीं शब्दों में व्यक्त हैं - देश की

1. शुभु पटवा - पर्यावरण की संस्कृति, पृ. 84
2. विनोद कुमार, आदिवासी संघर्ष गाथा - पृ. 77-78

प्रगति के नाम पर जितने कारखाने, बड़े-बड़े जलाशय, बांध, खदान और उद्योग धंधे जंगल एरिया में आदिवासियों की ज़मीन पर हैं, कारखाने उभरने के लिये, खदान के उद्योग के लिये, आदिवासियों के हज़ारों गाँव जो जंगल में सुख-शांति में बसे थे - जहाँ वो वृक्ष, जंगल की पूजा करते थे, पशु-पक्षियों की पूजा करते थे, विस्थापन के कारण घरद्वार, जल, जमीन, जंगल गाँव क्षेत्र, भाई-बंधु सब छूट गये। ज़मीन का मुआवजा मिला नहीं। ना गाँव रहा, ना घर रहा। कारखानदारों ने उनकी झोपड़ियां गिरा दी। बिल्डरों ने उनका संसार ध्वस्त कर दिया। अपने ही गाँव में अपने ही देश में विस्थापन के कारण आदिवासी बेघर बेसहारा दिशाहीन हो गए।"[1] क्योंकि आगे उनका जीवन प्रश्न चिह्न की तरह गया है।

विकास योजनाओं में प्रमुख है जल विद्युत शक्ति उत्पादन और सिंचाई केलिए बांधों का निर्माण। "आज़ादी के बाद बांधों के निर्माण का सिलसिला तेजी से शुरु हुआ और उन्हें स्वतंत्र भारत के नये देवालय बताए गए।"[2] बाँध और नर्मदा परियोजना के कारण अभिशप्त जीवन जीनेवाले आदिवासी लोगों की स्थिति 'पार' उपन्यास में है - "अब ये शहर वाले नदी बाँध रहे हैं। तब प्रलय आएगी। जो अब तक बचा है वह सब भी स्वाहा जो जाएगा। तब हम कहाँ जाएँगे? कैसे जिएगे?"[3] यहाँ महत्वपूर्ण सच को लेखक हमें पढाते हैं कि हर एक जनपद की ज़िन्दगी नदी पर केन्द्रित है।

1. ब्राह्मणीकरण की काट - मूलनिवासी पहचान, उषाकिरण अश्राम, पृ. 55, आदिवासी साहित्य
2. शुभु पटवा - पर्यावरण की संस्कृति, पृ. 84
3. वीरेन्द्र जैन - पार, पृ. 51

मतलब है नदी के बहाव के साथ मानव संस्कृति भी आगे बढ़ती है। बाँधों के निर्माण से खेती को पानी, नगरों को बिजली सब कुछ मिलेगी। लेकिन नदी से जुड़ी हुई आदिवासी ज़िन्दगी में संकट आ जाएगा।

बाँधों को निर्माण से भारत में अनेक नदियाँ अपने लक्ष्य तक पहुँचती नहीं उसके पहले ही सूख जाती हैं। नदी के पानी के साथ भू-गर्भ जल का प्रतिशत भी कम हो जाता है। डूब उपन्यास में इसका जिक्र इस प्रकार है कि - "नदी के किनारे वाले खेतों में कुएँ नहीं है। बसकारे वाले फसल के दिनों में नदी में खूब पानी रहता है, सो नदी किनारे वाले खेतों में ज्वार और तिली बोई जाती है, मगर दूसरी फसल के दिनों में जड़ी में पानी रहे न रहे, इसलिए कोई फसल नहीं बोई जाती है।"[1] खेती-बाड़ी पर आश्रितद जीवन उनसे कैसे दूर हो जाते हैं इसकी वास्तविकता यहाँ दर्शायी गयी है।

'मरँग गोडा नीलकंठ हुआ' में जंगल के साथ जीनेवाले आदिवासियों के जीवन पर यों प्रकाश डालते है। 'जंगल के बिना हम जिएगे कैसे? हमारी झोपडी, खटिया बनाने की लकडी और रस्सी जंगल से आती है। साल पत्ते में हम और हमारे बोंगा, हमारे देसाउलि डियंग पीते हैं, खाना खाते हैं। जब धान नहीं होता, तब जंगली फल मुल, कंद आदि खाकर ही तो हम पेट भरते है। उनके साथ साथ लाह, तसर, गुटि, करंज के बीज, दोना पत्तल आदि बेचकर चावल, नमक इत्यादि खरीद लाते हैं। साल की लकडी और पत्तों के बिना शादी ब्याह से लेकर जन्म मृत्यू तक का कोई भी संस्कार संभव है

1. वीरेन्द्र जैन - डूब, पृ. 67

क्या?"[1] शुद्ध समृद्ध मरंग गोड़ा' नामक जंगली इलाके में युरेनियम खदानों से जो रेडियों धर्मी विकिरण उत्पन्न हुआ इससे कष्ट भोगने वाले का चित्र यहाँ देख सकते हैं।

ग्लोबल गाँव के देवता नामक उपन्यास में भी विकास के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों के शोषण करने वाले को अभिव्यक्त किया है- "अवैध खनन केलिए पाँच-दस असुरों को रोज़ फुसलाया जाता है। हर उपाय से उनकी ज़मीन हथियायी जाती है। बाक्साइट निकाल-निकालकर मौत की खाइयों छोडी जा रही है।"[2] प्रकृति के साथ बेरहम छेड़नी केवल आदिवासियों के अस्तित्व का संकट नहीं है बल्कि संपूर्ण मानवता वा मानवेतर प्राणी जगत केलिए भी खतरा है।

जंगलों और वनस्पतियों के बिना पृथ्वी पर मानव का अस्तित्व असंभव है। जंगल की अनंत विशालता एवं वैविध्य बयान करते हुए 'जंगल जहाँ शुरु होता है' में जिक्र हैं - 'कितने-कितने रंगों का अनंत खजाना है यह प्रकृति। धारीदार बाघ, चित्तीदार चीते और हिरण काले भौंसे, रंग बदलते गिरगीट, रंग-रंग के परिंदे बाज और गिद्ध।"[3] जंगल आदिवासियों के लिए सिर्फ निवास स्थान नहीं बल्कि जीवन के हर स्तर के साथ आगे बढ़नेवाले मिश्र भी है जंगल के बिना आदिवासी जीवन पूर्ण नहीं है।

'पहाडचोर' नामक उपन्यास में खनन के फलस्वरूप झाण्डूखाल के

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 113
2. ग्लोबल गांव के देवता, रणेन्द्र, पृ. 48
3. सजीव - जंगल जहाँ शुरु होता है, पृ. 34

उपजाऊ खेत, ज़मीन सब बर्बाद होने की स्थिति को 'टोपन' साबरा से कहता है 'अब हियाँ रैहना भौत मुश्किल हो गया है। मेरी पछाह की दो बिघा खेत की पट्टी धसक गई। झाण्डूखाल धंस रहा है। सबको ई भागना होगा हिया से एक दिन।"[1] कृषि योज्य मिट्टी की उर्वरता का नष्ट होना और जीने की उर्वरता का नष्ट होने की दुर्दशा यहाँ देख सकते है।

आदिवासियों को जंगल और प्रकृति से हटने का षड्यंत्र पहले से ही शुरु हुआ था। मगलिया काल में हमारे देश के सारे वन क्षेत्र स्थानीय राजाओं के नियंत्रण में थे। बाद में अंग्रेज़ों के आगमन से पूरे देश पर जबरदस्त अधिकार लेने के बाद वनों पर भी अपना नियंत्रण स्थापित करना आरंभ कर दिया। ऐसा करने केलिए अंग्रेज़ों ने नियमों उपनियमों का खुरदुरा जाल बुनना शुरु किया। सबसे पहले अंग्रेज़ों ने वन के बारे में एक रेगुलेशन बनाया जिसे वन नीति भी कही जाती है। बाद में अधिनियम बनाया जिसे भारतीय वन अधिनियम 1878 के नाम से जाना जाता है।

आदिवासी और मूलनिवासी प्रकृतिपूजक है। प्रकृति को अपना जीवनाधार माननेवाले इन लोगों को विस्थापन कितना पीड़ा दायक है यह इन्हीं के शब्दों से व्यक्त हो जाता हैं - "देश की प्रगति के नाम पर जितने कारखाने, बडे-बड़े जलाशय, बांध, खरान और उद्योग-धंधे जंगल एरिया में आदिवासियों की ज़मीन पर हैं, कारखाने उभारने के लिये, खरान के उद्योग के लिये, आदिवासियों के हज़ारों गाँव जो जंगल में सुख-शांति में बसे थे-

1. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 248

जहाँ वो वृक्ष, जंगल की पूजा करते थे, पानी की पूजा करते थे, धरती की पूजा करते थे, पशु-पक्षियों की पूजा करते थे, विस्थापन के कारण घरद्वार, जल, ज़मीन, जंगल गाँव क्षेत्र भाई-बंधु सब छूट गये। ज़मीन का मुआवजा मिला नहीं। ना गांव रहा, ना घर रहा। कारखानदारों ने उनकी झोपड़ियां गिरा दी। बिल्डरों ने उनका संसार ध्वस्त कर दिया। अपने ही गांव में अपने ही देश में विस्थापन के कारण आदिवासी बेघर बेसहारा दिशाहीन हो गए।"[1] अपने पुश्तैनी हक केलिए 'जंगल आंदोलन' नामक संस्था की स्थापना और उसमें दिए गए भाषणों के ज़रिए अवबोध कराते हैं मरंगा गोडा नीलकंठ हुआ नामक उपन्यास में - "पिछले कुछ वर्षों से हो रही सरकारी ज़्यादतियों के खिलाफ है हमारा यह जंगल आंदोलन। केंदु पत्ता, जिससे आप लोग बीड़ी बनाते थे जो आप लोगों के रोज़गार का एक महत्वपूर्ण ज़रिया था, आप लोगों की पहुँचते दूर हो गया। सरकार के इस कदम से आप लोगों में से कितनी की ही रोज़ी रोटी छीन गयी होगी। छीन गयी है ना?"[2] 'पहाड़ चोर' उपन्यास में पहाड और प्रकृति के साथ के लगाव को चित्रित किया गया है, "सुखिया ने प्रतिवाद किया ये म्हारा पहाड़ है। तू कौन होता है हमें रोकने वाला।"

'ये अब कंपनी का पहाड़ है'। चौकीदार ने उनकी और हेय दृष्टि डालते हुए कहा। वे आहत हो जाते हैं। पहाड़ और जंगल तो उनका अविच्छिन्न अंग है।

---

1. ब्राह्मणीकरण की काट - मूलनिवासी पहचान, उषाकिरण अश्राम, पृ. 55, आदिवासी साहित्य
2. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 112

पहाड़ नहीं है, तो उनका जीवन कहाँ ? "तन में जैसे दिल धड़कता है, वैसे पहाड़ उनके अस्तित्व की धड़कन है। उनके कण-कण में, उनके आँसू, दुःख, दर्द, हँसी-ठिठोली का इतिहास लिखा हुआ है। इस गैंडे को क्या मालूम की यह पहाड़ उनके साथ हँसता है, रोता है और गीत गाता है।"[1] यहाँ प्रकृति के साथ रागात्मक संबन्ध रखनेवाले आदिवासी लोगों की संबन्ध की गहराई दर्शायी गयी है।

इस प्रकार जल, जंगल और ज़मीन से संपन्न एक जनता को विस्थापन और इसके पीछे की विकास योजनाएँ किस तरह यायावर जीवन या अपराधी जीवन जीने को बाध्य करते है इसका जिक्र रमणिका गुप्ता के शब्दों में 'अच्छा-खासा इज्जतदार, खाता-पीता वनपति आदिवासी किसान गाँवों की सामूहिक ज़मीन का भागीदार-पहले मज़दूर बना, फिर विस्थापित और अब कोयलाचोर उसकी ज़मीन, जंगल, संस्कृति और भाषा सब खत्म की जा रही है और ये सब हो रहा है राष्ट्रहित के नाम पर।"[2] जंगल और आदिवासी कल्याण के नाम पर बनाई गई विकास नीतियाँ सिर्फ बाज़ारोन्मुख है। इसका परिणाम विस्थापन है। आज आदिवासी विकास का नहीं विस्थापन का भोक्ता है।

4.3 विस्थापन

मनुष्य के साथ अनादि काल से ही विस्थापन जाने-अनजाने जुडा

1. सुभाष पंत - पहाड़ चोर, पृ. 46
2. रमणिका गुप्ता - आदिवासी विकास से विस्थापन, पृ. 40

हुआ है। मनुष्य के प्रारंभिक समय में नये खाद्य पदार्थों की खोज में तथा नयी आवास व्यवस्था के लिए वे विस्थापित होते थे। पर आज का विस्थापन इससे बिलकुल भिन्न है। 'मनुष्य के अपने जन्मस्थान और निवास स्थान छोड़कर एक नये स्थान की ओर गमन करने की प्रक्रिया को विस्थापन कहा जा सकता है।"[1] विस्थापन केवल एक सीमा को पार करने का भौगोलिक कार्य नहीं बल्कि विस्थापित व्यक्तियों के जीवन के समस्त पक्षों को प्रभावित करनेवाली एक जीवन पर्यन्त प्रक्रिया है।

देश की आबादी में अनुसूचित जनजाती के लोगों की संख्या 8.6ऽ है लेकिन विकास परियोजनाओं के कारण विस्थापित होनेवाले लोगों की कुल संख्या में आदिवासी लोगों की संख्या 40 प्रतिशत है। विस्थापन में खासकर आदिवासी विस्थापन का अनदेखा पहलू यह होता है कि वह केवल अपने जंगलों, संसाधनों या गाँवों से ही बेदखल नही हो जाते बल्कि मूल्यों, नैतिक अवधारणाओं, जीवन-शैलियों, भाषाओं, एवं संस्कृति से भी वे बेदखल कर दिए जाते हैं।

विस्थापित आदिवासियों की दशा पर प्रकाश डालते हुए गंगा सहाय मीणा का कहना हैं कि - 'तमाम विकास परियोजनाओं से आदिवासियों को भूख और विस्थापन के अलावा कुछ नहीं मिला। अकेले झारखंड राज्य से पिछले एक दशक में विभिन्न परियोजनाओं के चलते कम से कम दस लाख लोग विस्थापित हो चुके हैं। विस्थापित आदिवासियों में अधिकांश पुरुष

---

1. डॉ. एन मोहनन - समकालीन हिन्दी उपन्यास पृ. 69

आस-पास के शहरों में दिहाड़ी पर काम करते हैं और आदिवासी लड़कियाँ और औरतें लोगों के घरों में काम करती है। विस्थापित आदिवासियों को एक तरफ आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ता है, वहीं दूसरी तरफ आदिवासी औरतों को शारीरिक शोषण भी झेलना पड़ता है।"[1]

ग्लोबल गाँव के देवता में विस्थापन की त्रासदी को यो व्यक्त किया है - "धरती का आखिरी छोर। अब यहाँ से कहाँ? नष्ट करने की प्रक्रिया तो आज भी जारी है। ज़मीन और बेटियाँ चुप-चुप, शान्त, शान्त किंतु रोज़ छीनी जा रही ।"[2] सदियों से जंगलों में रहनेवाले आदिवासियों के सामने विकास और इसके उपरांत का विस्थापन कैसे उन्हें आश्रयहीन, निराधार बनाकर अपने अस्तित्व से वंचित कर लेता है। उसका वास्तविक चित्र यहाँ दृष्टव्य है।

देश विकास के नाम पर आदिवासी समाज की अपनी सामूहिक पहचान और ऐतिहासिक-सांस्कृतिक विरासत ही उनके हिस्से में आई। वैश्वीकरण एवं निजीकरण ने उन्हें अपनी ज़मीनों से बेदखल किया, उत्तर-आधुनिक समय में उत्तर औद्योगिक और नव पूँजीवादी अवस्था का भी विकास हुआ। इस कारण से कंपनियों ने विकास के नए केन्द्र बनाए और प्राकृतिक संसाधनों की तलाश में हमारे वनों को नष्ट करना शुरु किया। वर्षों से आदिवासी वन में रहता था और अपने आपको उसका 'स्वामी' मानता

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 20
2. रणेन्द्र - ग्लोबल गाँव के देवता, पृ. 34

था। अचानक उससे उसका घर ही छीन गया। औद्योगिक विकास के दावों में अनेक तरह का खोखलापन था। जिसमें आदिवासियों के पास 'खोखले वादे तो थे लेकिन वादों की पूर्णता का कहीं आता-पता नहीं था। अतः आदिवासी छला जाने लगा।"[1] विकास नीतियाँ उनकी परंपराओं को तोड़ती हैं, उनके जीवन-साधनों और संसाधनों को तहस-नहस कर डालती है और उन्हें शरणार्थियों की स्थिति में धकेल देती है।

'जहाँ खिले है रक्त पलश' नामक उपन्यास में विकास से उत्पन्न विस्थापन की भीषण स्थिति पलामू के पास के एक गांव 'चाँदो' के गतिविधियों से समझ सकते हैं - कभी घनघोर जंगल था यहाँ। आदिवासियों, ढोल मांदल, हांके और शिकार का गाँव था चाँदो। तीरों की तूती बोलती थी यहाँ। तोथी विकास योजनाओं ने आदिवासियों को प्रदर्शन की चीज़ बना डाला। जंगल कटते गये और आदिवासियों का पलायन होता रहा अब चांदो एक गैर आदिवासी बस्ती है।"[2] आदिवासी जिस प्रकृति को माँ मानते आए हैं वह बाहरी लोगों के लिए सिर्फ मुनाफे का साधन मात्र है।

पहाड़ नामक उपन्यास में जंगल से बेदखल होने के बारे में गाँव में जीनेवाले आदिवासी लोगों के जीवन कैसे हैं इस का चित्र है - "गाँव में माँझियों का कुछ नहीं। जंगल में भी माँझियों का अब कुछ नहीं। गाँव ज़मीन्दारों का है, जंगल सरकार का। अब क्या करे माझी? कहाँ जाएँ? क्या

1. सं. डॉ. विनोद विश्व कर्मा, - उत्तर आदुनिक और आदिवासी विमर्श, पृ. 8
2. राकेशकुमार सिंह - जहां खिले है रक्त पलश - वृ. 128

इन दुनिया में उनकेलिए कोई जगह नहीं? जानवर की तरह किसी मुखिया किसी मलिकान और किसी ठेकेदार के खूँटे से बंध जाना उनकी मज़बूरी है। दशरथ को लगा कि वह काली रात जब दिकुओं ने माँझियों पर आक्रमण किया था, अब भी खत्म नहीं हुई है।"[1] अपना अस्तित्व और संस्कृति नष्ट होने की दुर्दशा से पीडित आदिवासी समाज का अस्तित्व दुःख और अपनी अस्मिता को बनाए रखने की इच्छा भी यहाँ प्रकट है।

4.3.1 विस्थापन से उत्पन्न बेरोज़गारी

आदिवासी और प्रकृति एक सिक्के के दो पहलू है। आदिवासी लोग अपने जीवन के साधन या जीविकोपार्जन का सधन प्रकृति से ही इकट्ठा करते हैं। जंगलों से आश्रित जीवन बितानीवाले ये लोग छोटे-छोटे कुटीर उद्योगों से ही अपना जीवनयापन कर रहे हैं। लेकिन प्रतिदिन बढ़ते रहते विकास के कदमों ने उन्हें अपने पुश्तैनी धंधों से अलग कर उन्हें बेरोज़गार बना दिया है।

वर्तमान संदर्भ में जीवनयापन के साधनों की कमी के कारण जंगल और प्रकृति से दूर होकर मुख्यधारा समाज में कुछ भी कम करने को ये लोग बाध्य दो जाते हैं। इससे केवल काम से ही नहीं जीवन के आधार तत्व से ही वे दूर हो जाते हैं। 'धार' उपन्यास में आदिवासियों का पुश्तैनी धंधा कोयला निकालने से दूर होनेवाले लोगों की बेरोजगारी की स्थिति का वर्णन है -'आदिवासियों का पुश्तैनी धंधा कोयला निकालना था। लेकिन विकास से

1. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 133

बढ़ते हाथों ने उनसे उनका धंधा छीन लिया। तेजाब की फैक्टरी ने उनके कम धंधों को तो समाप्त किया है। साथ में उनके जीवन को भी नरक बना दिया। दैसे टैंगर और मैना एक साथ एक बाज़ार दूरी मजूरी केलिए नयी जगह तलाश्ते आ गए है।"[1]

अपनी आजीविका केलिए आदिवासी नौजवानों के सामने जो भी काम हो वह करने के लिए वह तैयार हो जाते हैं। 'पहाड़ चोर' नामक उपन्यास में 'धीरी' नामक पात्र के माध्यम से यह दिखाया गया है। जैसे 'जब से विकास ने उनके गाँव झडूखाल पर कदम रखा था, तब से वहाँ के नौजवान अपने पुश्तैनी धंधों से दूर हो गए थे। 'धीरी' को काम मिल चुका था, ऐसा काम जो खतरनाक था, लेकिन धीरी ने एक नया इतिहास रच दिया था। झंडूखाल का पहला आदमी था जो आसमानं में तैरता कमेरा बनकर इतिहास रच रहा था। निरंतर क्षैतिज अवस्था में काम करते रहने से उसके रक्तप्रवाह का दबाव माथे, चेहरे, आँख, नाक, कान, छाती, हाथ और पैरों के अग्र भाग की ओर बढ़ गया था, जिससे उसके माथे पर तिड़कती नसों का कुच्छा दिखाई देते लगा था। उसकी निराशा की हदतक सपेद रहनेवाले आँखें खत.... हो गई। पपोटे सूज गए और चेहरे का गोरत बाहर को लटक गया।"[2] जंगल से दूर होनेवाले आदिवासियों को अपने जीवन को बताए रखने केलिए खतरनाक काम करने में हिचक नहीं होती।

विस्थापन और बेरोज़गार से लोग जो है अपना जीवन आगे बढ़ाने

1. संजीव - धार, पृ. 69
2. सुभाष पंत - पहाड चोर, पृ. 234

केलिए गाँव में ठेकेदार और ज़मीन्दार के घर में बेगारी करने के लिए भी तैयार होती है। शहर में जाकर मज़दूर बनने केलिए विवश लोगों की वास्तविकता 'पहाड' उपन्यास में है - 'दशरथ ने मौला को दिखाकर कहा इनका जवान लड़का मज़दूरी करते केलिए भट्ठा पर गया था। पीट-पीट कर मार डाला था उसे इन्हीं मालिकानों ने। लाश-भिजवा दी मगर मज़दूरी नहीं दी।"[1] आदिवासियों के प्रति बाहरी लोगों की नज़र अमानवीय है। उन्हें मनुष्य की तरह नहीं मानते सिर्फ काम करने वाले पशु के समान है।

आदिवासी समाज का एक वर्ग हैं कबूतरा। बाहरी लोगों के हस्तक्षेप से बुरी हालत में जीने केलिए अभिशप्त है ये लोग। जंगल कानून से नष्ट होनेवाली आजिविका और उससे उत्पन्न समस्याओं को अल्मा कबूतरी में 'कंदमबाई' के शब्दों में यों व्यक्त है, क्या समझूँ? हमें तो बचपन से एक सच्चाई समझाई गई है कि कबूतरी के मर्द की कोई खेती-धरती नहीं होती। कुआँ-तालाब पर उसका हक नहीं होता। फिर भी जिंदा रहना होते है। अन्न-पानी चुराओ और जुटाओं। बिना छत के सोने की आदत डालो। मौसम को फतरह करो।"[2] जंगल पर आश्रित जीवन जीनेवाले निरीह आदमियों को कैसे बुरी वृत्तियाँ करने को बाध्य करते हैं इसका जिक्र इस शब्दों में है। अपना जीवनाधार झीनने वाले नीति-नियमों पर यह एक प्रश्न चिह्न ही रहेगा। 'गगन घटा घहरानी' नामक उपन्यास में भी पुश्तैनी प्रवृत्तियों को छोड़कर भागना पड़ने का भय देख सकते है। 'सोना राम' के शब्दों में जब

1. निलय उपाध्याय- पहाड, पृ. 82
2. मैत्रेयी पुष्पा - अल्मा कबूतरी, पृ-. 113

खेत नहीं रहेगा, जंगल-पहाड़ सब सरकारी ही है, तब तो गाँव छोड़कर भागना पड़ेगा। भागना पडेगा नहीं। भागना पड़ रहा है। लेटता, देखो इतना बड़ा गाँव है लेकिन समूचे गाँव में तुम को आदमी खो जाने से नहीं मिलेगा। सब चल गए ईंटा भट्टा में। ईंटा पाथेन बंधुआ बनकर और वहाँ से भी क्या लाते हैं। रुपया पैसा? वहाँ सब बीमार-सीमार पड़ के कुँखांते, काँखते आते हैं।"[1] आदिवासी लोग हमेशा से दूर-दराज के क्षेत्रों में मुख्य धारा के लोगों से दूर रहे हैं, किंतु इधर बाहरी लोगों के प्रवेश के कारण आज उनकी उपजाऊँ ज़मीन खुद उनकी नहीं रही।

बाहरी हस्तक्षेप के कारण विस्थापन के चंगुल में फँसनेवाले लोगों का यथार्थ 'माटी माटी अरकाटी' में 'कोंता' के शब्दों में देख सकते है - 'ऊ लोग हमारा ज़मीन हड़प रहे थे। मना करने पर सिपाही लेकर द्याते अउर धमकाते, ज़मीन बड़कागढ़ का ज़मीन्दार का है। उससे पट्टा लिए हैं। तुम लोग के पास ज़मीन का कागच-पट्टा है तो दिखाओ। हम लोग के पास तो कुछ नइ था। चुप रह जाते। एक-दो तेरा चडरी अउर आसपास के टोला गाँव के लोग जमा होकर आउसले साहब से गोहाइर किए। साहब बोला, टीक हाय, हम ज़मीन का बारे में बड़कागढ़ का लाल राजा साहेब से बाट करेगा। लगित कुछ नइ हुआ ।"[2] विकास और स्वार्थ पूर्ति को प्रमुखता देकर चलाने वाली नीतियों के सामने आदिवासी जीवन अधिकारियों के लिए नगण्य है।

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 38
2. अश्विनी कुमार पंकज- माटी माटी अरकाटी, पृ. 142

धातू खनन के कारण प्रकृति को सब कुछ मानने वाले आदिवासी जीवन में कितना आपदाएँ हुआ है इसके बारे में मरंग गोज नीलकंठ हुआ' में सगेन पूछना चाहती हैं कि 'क्यों खनन कार्य केलिए, मिल या टेलिंग डैम के लिए उनकी ज़मीन लेते वक्त उन्हें यह नहीं बताया गया कि उनसे न सिर्फ उनकी ज़मीन ली जा रही है या उनका जंगल लिया जा रहा है बल्कि उनका स्वास्थ्य, उनका खुशहाल जीवन भी छीना जा रहा है।"[1] बाहरी लोगों के लिए तथा अधिकारी वर्ग केलिए प्रकृति का दोहन, भौतिक उपयोगितावादि स्तर का है। इसलिए प्रकृति पर निर्भर आदिवासियों को वह अनदेखा करता है।

4.3.2 कृषक बनाम मज़दूर

आज सरकार और ठेकेदार मिलकर जंगल को नष्ट करने की नीतियाँ चालू कर रहे है। इसके कारण जंगलों, घाटियों में रहनेवाले आदिवासियों का जीवन तहन-नहस हो रहा है। जीवन का आधार नष्ट होने के कारण आदिवासियों को गाँव छोड़कर शहर की और मज़दूर बनकर दौड़ लगानी पड़ रही है। 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ में' मरंग गोड़ा में नई खदानों के मिल में जोर-जोर से काम शुरू हो चुका था। न चाहते हुए भी जंगल को काटकर खदान फेक्टरी में काम करने के लिए वह मज़बूर बनते थे। उपन्यास में 'जाम्बीरा' 'रोकोण्डा' आदि के माध्यम से देखा जा सकता है 'जाम्बीरा को अब तंबुओं में पानी या सामान ढोने का काम नहीं करना पड़ता। उसे चाहने वाले अफसरों ने उसकी ड्यूटी खदान के स्टोर में लगना दी थे। इससे उसकी

1. माहुआ माजी - मरंग गोडा निलकंठ हुआ, पृ. 163

आमदनी में थोडा इजाफा ही हुआ था मगर ड्यूटी के बाद जब वह घर लौटता तो ऊपर से नीचे तक पीली धूल से ढका हुआ नज़र आता है।"[1]

यूरेनियम खदान के विरोध आवाज़ उठाने पर अधिकारी वर्ग सगेन को धमकाने की कोशिश करते हैं "यूरेनियम या परमाणू का मामला अत्यंत संवेदन शील मामला है। इसके खिलाफ सार्वजनिक रूप से कुछ भी बोलना या कोई भी कदम उठाना देशद्रोह मान जाता है। इस मामले में कंपनी तथा प्रशासन का रवैया अत्यंत सख्त है। ऐसा करने पर किसी भी वक्त गिरफ्तार किये जा सकते हो। कठोर से कठोर सजा हो सकती है। अपने पिता की तरह वर्षों जेल में सड़ना चाहते हो क्या?"[2] जब राजनीतिक तथा अधिकारी वर्ग हिंसात्मक बनते हैं। तब उनके प्रति विरोध करनेवाली लोगों को समाप्त करने की साजिश भी वे बना लेते हैं।

विकास की खातिर आदिवासियों को उनके आवास से बेदखल करने के लगातार षड्यंत्र रचे जाते हैं 'ग्लोबल गाँव का देवता' उपन्यास में पाट पर आबादी जितनी जल्दी खत्म हो बॉक्साइट निकालने में उतनी ही आसानी होगी।' वहाँ नाम के लिए ही सही, एक स्कूल तो है प्रतिरोध के खण्डहर जैसा 'लेकिन सरकार ऐसा सोचती, तो इतने दुर्गम इलाके में आवासीय स्कूल क्यों खोलतीं?"[3]

---

1. माहुआ माजी - मरंग गोडा निलकंठ हुआ, पृ. 224
2. वही - पृ. 254
3. रणेन्द्र - ग्लोबल गांव का देवता, पृ. 14

आदिवासी समाज जल, जंगल और ज़मीन से आज वंचित हो रहे हैं। संत्रस्त आन्दोलनकारी फिलिप की मनोव्यथा इस प्रकार हमारे सामने प्रस्तुत हैं - "ये जंगल हमारे होते तो हमारी सुनी जाती। ये जंगल हमारे होते तो इसे सुक्खुसिंह न कटवा पाते, न ही सरदार उसे बाहर भेज पाते। हमारे होतो तो, रोकने पर पुलिस हमीम को न पीटती। यह पूरा झारखण्ड अभयारण्य है सर। अभयारण्य इन सालों का और हम इनकी खुराक।"[1] विकास के रफ्तार में आदिवासियों के सब कुछ नष्ट होने की स्थिति यहाँ देख सकते हैं।

आदिवासी जीवन शैली में जंगल कटाई नहीं है। अपनी आवश्यकता को देखते हुए वे पेड़ को छाँटते हैं, काटते नहीं। लेकिन शहरवासियाँ या मुख्यधारा समाज अपनी आवश्यकता की पूर्ति केलिए प्रकृति का अनुचित दोहन कर रहे हैं। परिणाम स्वरूप न केवला जंगल कट रहे हैं अपितु अन्य प्राकृतिक संसाधन भी मिट जाते हैं। पर्यावरण का असंतुलन बढ़ जाएगा। इस संदर्भ में 'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में चित्रित विकास संबंधी विचार महत्वपूर्ण है 'अपनी आदतें बदलो। जीवनशैली बदलो। विकास के नये मॉडल की तलाश करो। एक ऐसा मॉडल जो इस धरती को बचा सके .... हमारी सभ्यता को बचा सके... हमें बचा सके...। मानव इतिहास में झांककर देखो, धरती की उपेक्षा करके अब तक कितनी ही सभ्यताएँ नष्ट हो चुकी है।

---

1. संजीव - पांव तले की दूब, पृ. 98

विकास का स्वप्न दिखाकर बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ आदिवासियों के जंगलों पर अपना आधिपत्य स्थापित करते हैं। इस संदर्भ में रमणिका गुप्ता का कथन महत्वपूर्ण हैं कि -'सब तो आत्महत्या नहीं कर सकते। पलायन करके जाएंगे कहाँ ? पूरे देश में तो सभी जगह ऐसा ही हाल है। जहाँ जाएंगें, वहाँ भी तो उजड़े रहकर मरने के लिए निकल पडते हैं। मरना तो ऐसे भी है, भूखे रहकर मरे, पुलिस की मार से मरे या दबंगों की लाठी से! और तब वे फैसला लेते हैं - हम लड़ते-लड़ते इज्जत से बहादूरी की मौत मरेंगे। हमारे लिए न सही, शायद हमारी अगली पीढ़ी को कुछ मिल जाए । इसी आस के कहारे न चाहते हुए भी लोग बंदूक उठाकर चल पडते है।"[1]

निष्कर्ष

संक्षेप में बढ़ती हुई व्यावसायिक व सामाजिक ज़रूरतों केलिए आदिवासी लोगों पर तथा जंगलों पर अत्याचार बढता जा रहा है। हमें विकास चाहिए, विकसित होना भी अनिवार्य है क्योंकि भारत एक विशाल आबादीवाला देश है। लेकिन ध्यान देने की बात यह हैं कि विकास हमेशा सर्वसमावेशी और चहूँमूखी होना अनिवार्य है। विकास की चमचमाहट में अक्सर आदिवासी वर्गों के हितों को अनदेखा करते आ रहे हैं। एक वर्ग के लाभ केलिए अनेकों पर अन्याय एवं अत्याचार करना कहाँ तक हित कर है। यह सोचते का विषय है।

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी आस्मिता का संकट, पृ. 28

विकास के प्रति सभ्य लोगों की आदत में परिवर्तन होना ज़रूरी है। आदिवासी लोग धरती का पुत्र है। धरती को बचा रखना सब केलिए अनिवार्य है। धरती और धरती के संतुलन को अनदेखा करते हुए प्रतिदिन चलाने वाली विकास नीतियाँ मानव जीवन को बर्बर बना डालेंगीं। इसलिए पूरे मानव समाज केलिए प्रकृति का जंगल का नाश हानिकारक है। वनों पर पूर्णतः आश्रित वनवासियों की स्थिति और खतरनाक बन जाती है। इसलिए मानव समाज की संपूर्ण सुरक्षा को लक्ष्य करके प्रत्येक वर्ग को अपनी अस्मिता, अपनी संस्कृति अपनी अस्तित्व को बताए अपने जर जीने के अधिकार को सुरक्षित रखना अनिवार्य है। उसी पर केन्द्रित विकास ही विकास है। बाकी सब खुद खतरे को मोल लेने का प्रयाण मात्र है।

❖ ❖ ❖

पाँचवाँ अध्याय

समकालीन आदिवासी उपन्यासों में सांस्कृतिक यथार्थ

समकालीन आादिवासी उपन्यासों में सांस्कृतिक यथार्थ

5.1 संस्कृति

संस्कृति मानव जीवन की विकास-यात्रा की उपलब्धि है। किसी भी राज्य की पहचान वहाँ की संस्कृति होती है। प्रत्येक देश की सर्वतोन्मुखी विकास धारा को संस्कृति कहते हैं। सामाजिक प्राणी होने के नाते मनुष्य अपने समाज में रहकर अनेक प्रकार के संस्कारों के द्वारा अपने जीवन को सदैव परिमार्जित करते रहे हैं। जन्म से लेकर मृत्यु तक के आवश्यक विधि-विधानों के द्वारा वह अपने सामाजिक जीवन से जो कुछ भी प्राप्त करता है या प्रदर्शन अथवा अभिव्यक्ति द्वारा एक दूसरे को हस्तांतरित करता है, वह संस्कृति के अन्तर्गत माना जता है। याने कि संस्कृति का संबन्ध मनुष्य और समुदाय की उस पूर्णता से है, जिसे वह गढ़ता है और निरन्तर विकासमान भी रखता है। इसलिए संस्कृति की परिभाषा में प्रसिद्ध कवि एवं आलोचक श्री रामधारी सिंह दिनकर ने इस प्रकार लिखा हैं - "संस्कृति ज़िन्दगी का एक तरीका है और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में छाया रहता है, जिसमें हम जन्म लेते हैं। इसलिए जिस समाज में हम पैदा हुए हैं अथवा जिस समाज में मिलकर हम जी रहे हैं, उसकी संस्कृति हमारी है, यद्यपि अपने जीवन में हम जो संस्कार जमा करते हैं वह भी हमारी संस्कृति का अंग बन जाता है और मरने के बाद हम अन्य वस्तुओं के साथ अपनी संस्कृति की विरासत भी अपनी सन्तानों केलिए छोड़ जाते हैं। इसलिए संस्कृति वह

चीज़ मानी जाती है जो हमारे सारे जीवन में व्यापी हुई है तथा जिसकी रचना और विकास में अनेक सदियों के अनुभवों का हाथ है।"[1]

संस्कृति का मूल उद्देश्य मनुष्य के आंतरिक गुणों का विकास करना है वह भी विभिन्न संस्कारों के माध्यम से उसकी प्रतिभा और योग्यता को उजागर करना है। संस्कृति के ज़रिए मनुष्य जीवन के उस सत्य को पहचानते जिससे मनुष्य, मनुष्य बनता है। जन्म से ही वह संस्कृति के मूल सिद्धांतों और तत्वों को ग्रहण करते चलता है और धीरे-धीरे उसके प्रत्येक क्रिया-कलाप, चितनं और अभिव्यक्ति में संस्कृति का गहरा प्रभाव पडता है। इसलिए कहा जाता है कि संस्कृति किसी भी देश की आत्मा व प्रेरणास्रोत होते हैं जिनके सहारे देश अपने लक्ष्यों और आदर्शों का निर्माण करता है।

5.1.1 भारतीय संस्कृति

भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम संस्कृति होने के साथ एक विकासशील संस्कृति भी है। भारतीय संस्कृति नदी के समान प्रवाहमय संस्कृति है। जिससे अनेक विदेशी, देशी, सांस्कृतिक धाराएँ आकर मिलीं और विलीन होकर बहती रहती है। इसलिए हमारी संस्कृति को लेकर डॉ. संपूर्णानन्द का कहना है कि 'भारतीय संस्कृति ने सैंकडों बाधाओं-संकटों और उतार-चढावों के बीच भी अपनी अस्मिता को कायम रखा है जबकि अन्य कई समकालीन संस्कृतियाँ कोई भी चिन्ह पीछे छोड़े बिना काल की

---

1. रामधारी सिंह - दिनकर - संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 86

धारा में विलीन हो गई हैं।"[1]

एक समन्वयवादी संस्कृति होने के कारण भारतीय संस्कृति में विभिन्न प्रकार की पूजा पद्धतियों, विचार सरणियों, विभिन्न धार्मिक संप्रदायों, भाषा, रहन-सहन और रीति-रिवाज़ों का मिश्रण देख सकते हैं। इस संदर्भ में डॉ. विश्वंभर नाथ उपाध्याय का भारतीय संस्कृति की परिभाषा महत्वपूर्ण है। समन्वय संस्कृति को उजागर करते हुए वे कहते हैं, 'भारतीय संस्कृति की कला साहित्य और चिन्तन पद्धतियों में अनेकताओं के भीतर एकता के तत्वों को पकडने और उन्हें रेखांकित करने की प्रवृत्ति है।"[2] समन्वयात्मक और विकासशील होने के कारण भारतीय संस्कृति को संसार की सर्वाधिक प्राचीन और समुन्नत संस्कृति होने का गौरव प्रदान किया है। आर्यों के आगमन से भी पहले यहां कई आदिम जातियाँ थी जिनकी अपनी एक समृद्ध सांस्कृतिक परंपरा भी थी। ऐसी एक समृद्ध संस्कृति में आज होनेवाले परिवर्तन की ओर दृष्टि डालते हुए शंभुनाथ का कथन हैं, 'किसी भी देश की जनता की संस्कृति उस देश की जनता के आपसी लगाव, सहचरता और विश्वास की मुख्य धुरी है। इसके बिना न मनुष्य, मनुष्य के बीच संबंध की कल्पना की जा सकती है, न जीवन के अर्थ और शैली की। संस्कृति इतनी ज़रूरी है। फिर भी पूरे वातावरण में ऐसे दबाव तेजी से बढ़ रहे हैं, जो मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग करते हैं। मनुष्य को उसकी संस्कृति से अलग

1. सुदर्शन कुमार - संस्कृति कला और शिक्षा' नामक लेख से, भारतीय सांस्कृतिक विरासत एक परिदृश्य, पृ. 2
2. वही - पृ. 2

करना वस्तुतः मनुष्य को मनुष्य से अलग करना है।"[1] आज हमारे समाज और संस्कृति में होनेवाला यह दबाव जो भूमंडलीकरण और उसके प्रभावों से ही हो रहा हैं।

5.1.2 भूमंडलीय संस्कृति

आज हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पाश्चात्य संस्कृति झलक रही है। वर्तमान संदर्भ में हमारे जीवन में भारतीय संस्कृति और उसका महत्व प्रायः लुप्त होता जा रहा है। क्योंकि आज संपत्ति पर केन्द्रित अर्थ व्यवस्था की ओर हम भाग रहे हैं। मानव जीवन के विकास में जहाँ संपत्ति की उत्पत्ति हुई वहीं से मनुष्य जीवन में शोषण की प्रक्रिया तथा आत्मकेन्द्रित वृत्ति का विकस भी शुरु हुआ। 'यह मेरा यह 'तेरा' का मेरे-तेरे के भेद का निर्माण हुआ और शोषण के अनुकूल व्यक्तिगत हित संबंध रखनेवालों ने एक नयी संस्कृति को जन्म दिया। वह है भूमंडलीय संस्कृति या भोगवादी संस्कृति। "भूमंडलीकरण शब्द नया है लेकिन वह जिस प्रक्रिया को व्यक्त करता है वह पुरानी है। कार्ल मार्क्स ने बुनियादी विशेषता यह बताई थी कि वह सारी दुनिया में अपना विस्तार करता है। यह प्रक्रिया यूरोप में पूँजीवाद के जन्म के साथ ही शुरु हो गयी थी। लेकिन इस प्रक्रिया की दो अवस्थाएँ है पहली अवस्था साम्राज्यवाद या उपनिवेशवाद की थी। जिसका सामना भारत ने ब्रिटिश के रूप में किया था। दूसरी अवस्था उपनिवेशवाद समाप्त हो जाने के बाद की ओर संभव हो गया कि दूसरे देशों में जाकर अपने उपनिवेश

1. शंभूनाथ - संस्कृति की उत्तरकथा, पृ. 178

कायम किये बिना ही आपने साम्राज्य का विस्तार कर सकें। इस दूसरी अवस्था का नाम ही भूमंडलीकरण है।"[1] भूमंडलीय संस्कृति उस सफर का नाम है जो उन्नीसवीं सदी के सातवें दशक में आधुनिकता ने शुरु किया था। भूमंडलीय संस्कृति देश की तमाम संस्कृतियों को विकृत करते हुए लोगों के अस्तित्व को ही नकारते हुए आगे बढ रही है।

आधुनिकता को इंसान के सोच-विचार में तरह-तरह से क्रान्तियों करने का श्रेय दिया जाता है। लेकिन उसकी व्याख्याओं में यह पहलू बहुत कम उभरकर आ पाता है कि वह भूमण्डलीकरण की वाहक भी है। जब तक भूमंडलीकरण का यथार्थ अपने पूरे विस्फोट के साथ प्रकट नहीं हुआ था। विविधता और बहुलता के आधार पर सिद्धांत माननेवाले चिंतक किस्म-किस्म की आधुनिकताओं का विमर्श चलाने में लगे हुए थे। इस विमर्श में आधुनिकता की वह प्रवृत्ति छिप गई थी जो सभी सभ्यताओं और संस्कृतियों को समरूपीकरण की तरफ ढकेलती है।.... ज्ञानोदय की कोख से जन्मी आधुनिकता के सार्वभौम विचार में एक विश्ववाद का पहलू एक शक्तिशाली अंतर्धारा के रूप में मौजूद है।"[2]

आज हमारे समाज के हाशिएकृत लोगों के सबसे अधिक खतरा भूमंडलीकरण से हुआ है और भूमंडलीकरण पूंजीवाद और बाज़ारवाद का ही प्रतिरूप है। भूमंडलीकरण का प्रभाव समाज में धीरे धीरे क्यों न हो सब

---

1. मैनेजर पांडे - आलोचना की सामाजिकता, पृ. 165
2. सं. अभयकुमार दूबे, भारत का भूमंडलीकरण, पृ. 27

कहीं है। भूमंडलीकरण ने उपभोक्ता संस्कृति को जन्म दिया, जिसमें उपभोक्ता वह नहीं है जो ज़रूरत के मुताबिक उपभोग करता है, अपितु वह है जो भोग करने केलिए भोग करता है और भारतीय अर्थव्यवस्था बाज़ार उससे लाभान्वित होता है। उपभोक्तावादी संस्कृति ने लोकतन्त्रीय भारत के निर्माता-नेता आला-अधिकारी, टेकेदार, पूंजीपति धनकुबेर उद्योगपति, मीडिया संस्थानों के मालिक आदि सभी को संगठित होने का अवसर प्रदान किया। आज़ाद भारत के प्राकृतिक संसाधनों तथा निःसहायजनों को उपभोग का असीमित अवसर दिया।

इससे हमारी संस्कृति का पतन और नई चाल की 'अपसंस्कृति' की शुरुआत हुई। क्योंकि भूमण्डलीय व्यवस्था ने हमारी संस्कृति में हुई मूल्यवान व्यवस्था, हमारी जीवन-पद्धति, जीवन मूल्यों, मान्यताओं, भाषा, संस्कृति की विरासत को विनाश की स्थिति में धकेल दिया है। आर्थिक व्यवस्था के पतन के साथ संस्कृति पतन की भी शुरुआत भूमंडलीकरण से हो रही है। 'अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण के साथ अपसंस्कृति का भी भूमंडलीकरण हो रहा है। भोगवादी संस्कृति जंगल की आग की तरह फैल रही है और जीवन-शैलियों को विकृत कर रही है।"[1] इस संदर्भ में संस्कृति एक उद्योग है, उत्पाद है, पण्य है, ब्रांड है याने कि संस्कृति अपनी मूल रूप छोडकर 'अपसंस्कृति' के रूप धारण किया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपसंस्कृति झलक रही है। विकास के नाम पर प्रकृति को लूटकर सांस्कृतिक मूल्यों को

1. श्याम चरण दूबे - विकास का समाज शास्त्र, पृ. 157

नष्ट करके वहाँ 'अपसंस्कृति' को रोपने की प्रवृत्ति चल रही है। इस अपसंस्कृति ने बहुराष्ट्रीय कंपनियों को राष्ट्रीय सीमाओं को तोडकर पुरी दुनिया में फैलकर अपना खेल खेलने का रास्ता खोल दिया है। हरेक देश की परंपरागत सीमाओं, बन्धनों, नियमों, कानूनों और मर्यादाओं को तोड़ कर एक नई चाल की एकरूपिय संस्कृति या अपसंस्कृति बनाने में भूमंडलीकरण पूरी सहायता दे रहा है। सरकार की नीतियाँ भी इसके अनुकूल बन रही हैं। "भूमंडलीकरण द्वारा प्रचारित प्रसारित की जा रही इस उपभोक्ता संस्कृति के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा गैर पूँजीवादी समाजों की पारंपरिक जीवन शैली है जो विभिन्न समाजों में भिन्न भिन्न किस्म की है। इन समाजों की जीवन शैली, खाने पीने की आदतें, सोचने समझने का तरीका उनकी परंपरा वा संस्कृति और इन सब के आधारपर उनमें व्याप्त राष्ट्रीयता बोध इस उपभोक्तावादी संस्कृति के प्रसार में बाधा उपस्थित करते हैं। इसलिए भूमण्डलीकरण की विचार धारा संस्कृतियों की वैविध्य को मिटाकर सांस्कृतिक समरूपता स्थापित करने की प्रयास करती है। "[1]

5.2 साहित्य और संस्कृति

साहित्य मानव जीवन का आधार है। मानव जीवन के बिना साहित्य का कोई अस्तित्व नहीं। साहित्य और संस्कृति का बहुत ही नज़दीकी संबंध है क्योंकि दोनों का अंतिम लक्ष्य है मानव कल्याण। कहा जाता है कि संस्कृति मानव को ऊपर उठाने का काम करती है और साहित्य मानव को

1. प्रमोद कुमार - भारतेन्दु युगीन साहित्य में राष्ट्रीयता की अवधारणा, पृ. 98

आदर्श और मूल्यवान बनाने का काम भी करता है। साहित्य विधाओं में उपन्यास का स्थान महत्वपूर्ण है। क्योंकि उपन्यास साहित्य का श्रेष्ठ रूप है। साहित्य और संस्कृति का पूर्ण मिलन उपन्यास में ही देखा जा सकता है क्योंकि उसमें साहित्यिक विचार एवं संस्कृतिक मूल्यों का चित्रण सशक्त ढंग से हुआ है। वह राष्ट्रीय रूपक ही है।

संस्कृति में जो कुछ भी बदलाव आता है वह साहित्य में भी देखा जा सकता है। इसलिए विमर्श के रूप में आज हाशिएकृत समाज की संस्कृति और उनके सांस्कृतिक मूल्यों की रक्षा को ध्यान में रखते हुए साहित्य में देखने वाली प्रवृत्ति बिलकुल आज हो रही 'अपसंस्कृति' के प्रति सचेतनता है।

5.3 आदिवासी संस्कृति

प्रकृति के खुले वातावरण में जंगलों और पर्वतों के बीच अपनी आदिम परंपराओं, रीति-रिवाज़ों, तीज-त्योहारों आदि के साथ जीवन-यापन करनेवालों को आदिवासी कहा जाता है। सारी दुनिया के अनेक हिस्सों में ऐसे मानव समुदाय पाए जाते हैं, हमारे देश में झारखंड, उड़ीसा, पश्चिम बंगाल, असम, छत्तीसगढ़, मेघालय, अंडमान-निकोबार, मिजोराम, नागलैंड, कर्नाटक, केरल, अरुणाचल प्रदेश, हिमालय आदि प्रदेश उनकी वासभूमि है। यह एक बड़ी दुनिया है, इस दुनिया में रहनेवालों का अपना विशिष्ट जीवन अपनी विशिष्ट बोली एवं विशिष्ट संस्कृति है। इस विशिष्टता पर

ध्यान रखते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं - "आदिवासी संस्कृति में ईश्वर या आत्मा नहीं, प्रकृति प्रमुख है, जिसके साथ मनुष्य जीता, पलता, बढ़ता है और फिर खत्म हो जाता है। मरकर भी वह प्रकृति के विकास के लिए खाद बन जाता है। उसका कंकाल, उसकी हड्डियाँ धरती को उर्वर बनाती हैं, धरती पर कब्जा नहीं करतीं। आदिवासी मान्यताओं के अनुसार उसका मिट्टी का अंश मिट्टी में, पानी का पानी में ऊर्जा आग में बदल जाती है और श्वास हवा में मिल जाता है। यह आस्थाएँ 'आदिधर्म' में भी चिन्हित हैं।"[1] यहाँ आदि धर्म से तात्पर्य प्रकृति धर्म से है।

असल में संस्कृति जीवन का तरीका है, और यह तरीका सदियों से जमा होकर उस समाज में 'समाया रहता है जिसमें हम जन्म लेते है। इसकी अंतर्गत आचार-विचार विश्वास, रीति-रिवाज़, विधि-विधान एवं परंपराएँ आते हैं। इसके अंतर्गत सभी समस्याएँ एवं आदतें शामिल है। आदिवासी संस्कृति भी इसके अनुरूप है। नृत्य, संगीत, हस्तकला और उसी तरह प्रकृतिरत जीवन में दिखाई देनेवाले शौर्य, धैर्य, साहस स्वच्छन्दता आदि आदिवासी संस्कृति की मात्र विशेषता है। इसलिए कहा जा सकता है कि आदिवासी संस्कृति का निर्माण शून्य में नहीं होता। वह मानव जीवन के व्यवहारों, साधनों, रोजमर्रा, के संघर्षों तथा संकलित अनुभवों से निर्मित होती है।

---

1. रमणिका गुप्ता, सं. विशाल शर्मा, दत्ता कोल्हारे, आदिवासी चेतना, साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन, पृ. 35

आदिवासी संस्कृति को अलग संस्कृतियों से पृथक बनने वाले तत्व हैं स्वतंत्रता। अपने स्थान में स्वतंत्र जीवन यापन करनेवाले लोग हैं वे। आदिवासी हमेशा स्वतंत्र समाज' के रूप में रहे हैं। वे जिन इलाकों में रहते आये हैं उन इलाकों को अपना स्वतंत्र राज्य जैसा समझते हैं जहाँ वे अपनी प्रथाओं और मान्यताओं के अनुसार निश्चित होकर स्वच्छंद भाव से जीवन जीना चाहते है। इस राज्य में किसी भी तरह के बाहरी हस्तक्षेपों को वे अपने ऊपर शत्रु के हमले जैसा मानते हैं। आधुनिक पूँजीवादी राज्य आदिवासियों की इस तरह की स्वायत्तता में विश्वास नहीं करता। इसलिए आधुनिक राज्य के साथ आदिवासी समाज का संबन्ध हमेशा विरोधपूर्ण रहा। इसी विरोध के सिलसिले में उन्होंने हथियार उठाकर बाहरी हस्ताक्षेपकारी शक्तियों के खिलाफ विद्रोह किया।

अपने अस्तित्व के ऊपर होनेवाले बाहरी हस्तक्षेप से वर्तमान संदर्भ में लेखनी चलाने केलिए भी आदिवासी समाज तैयार हो रहा हैं। कलम के माध्यम से वह आज आवाज़ उठाता है। समकालीन आदिवासी लेखन इसका प्रमाण है।

आदिवासियों की स्वाभिमान परक पहचान ही उनकी अस्मिता है। किंतु भारतीय इतिहास प्राचीन काल से आज तक उनकी पहचान, उनकी आस्मिता को सामने नहीं लाया, लेकिन समकालीन संदर्भ में शिक्षा, बढ़ती सुविधाओं ने अपनी अस्मिता को बनाए रखने में और अपनी विशिष्ट कला,

साहित्य और संस्कृति के प्रति गर्व महसूस कराने में उनकी मदद किया। आज वह मुख्यधारा समाज के सामने अपने साहित्य और संस्कृति के महत्व को दिखाना चाहता है।

आदिवासियों की आदिम सभ्यता और संस्कृति की अभिव्यक्ति इनके लोक नृत्य, लोक गीतों, चित्रों, वास्तुकला जैसी विविध विधाओं में मुखरित हुई है। ये नृत्यकेवल मनोरंजक अथवा कला का ही नहीं बल्कि जीवन का विश्वास भी व्यक्त करते हैं। आदिवासी लोकसंगीत व लोकगीत लोककला और लोक साहित्य की महत्वपूर्ण परंपरा मौखिक रूप से मौजूद हैं। मनुष्य द्वारा किए जाने वाली वे सभी क्रियाएं जिनमें सौन्दर्य की अनुभूति और लोकमंगल की भावना है और वे कला की श्रेणी में आते हैं। कला के महत्व को 'प्लोटो' ने इस प्रकार व्यक्त किया है - 'जिस मनुष्य में कला के प्रति सुरुचि होती है उसे ही दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है, जिसके कारण सामान्य धरातल से ऊपर उठकर वह सब में प्रेम और सौहार्द की भावना के दर्शन करता है।"[1] लोक कलाओं में प्रमुख है लोकगीत।

5.3.1 लोकगीत

लोक गीत मानव मन की सहज, स्वच्छंद अभिव्यक्ति है। आदिवासी साहित्य आदिकाल से लेकर अभी तक मौखिक रूप में प्रचलित है। यह लोकगीत के रूप में जाना जाता है। मानव मन की भावनाएँ इनमें झलक

1. सुदर्शन कुमार कपूर - संस्कृति कला और शिक्षा' नामक लेख से, भारतीय सांस्कृतिक विरासत एक परिदृश्य, पृ. 4

उठती हैं जैसे हर्ष, विषाद जय-पराजय, आशा-निराशा, आस्था, निष्ठा, संवेदना जीवन की हर भावना इनमें मुखरित होती है। कब किस युग में इनकी रचना हुई यह कहना तो असंभव है।

5.3.1.1 आदिवासी साहित्य में लोकगीत

आदिवासी साहित्य व्यक्ति का साहित्य नहीं, बल्कि समाज और उसके विशिष्ट समुदायों के अनुभवों का साहित्य है। इस साहित्य का मुख्य स्रोत है प्रकृति की संस्कृति और इतिहास। इतिहास के तहत आदिवासियों का सदियों से हो रहा क्रमिक विस्थापन, अन्याय और शोषण भी शामिल है, साथ ही शामिल हैं उनकी शौर्य गाथाएं और विद्रोह जिस पर तथाकथित सभ्य और मुख्यधारा समाज सदियों से नज़रदाज कर रहे हैं।

आदिवासी साहित्य के केन्द्र में समूह का अनुभव होता है यह समूहिक अनुभव जो है लोक संगीत और लोककथाओं के रूप में सामने आता है। लोक संस्कृति का व्यावहारिक पक्ष लोक जीवन है और उसके प्रायोगिक निष्कर्ष के रूप में उपस्थित है लोकसाहित्य। किसी भी देश के लोक साहित्य का अध्ययन उनकी सभ्यता, संस्कृति धर्म, रीति-रिवाज़, कला एवं साहित्य, सामाजिक जागरण एवं आकांक्षाओं का सूक्ष्म अवलोकन करने में सहायक है। याने कि लोकसाहित्य में जो लोकगीत है लोक कथाएँ हैं उसमें पूर्ण रूप में आदिवासी लोगों के जीवन यापन का, संस्कृति का, धर्म का, सजीव चित्रण मिलता है।

किसी भी जाति की चारित्रिक विशेषता उसके गीत और कथाओं में होती है। यही उसके स्वभाव और आसपास 'बिखरे सौन्दर्य और प्रसन्नता के प्रति प्रतिक्रिया का मापदम्ड भी हो सकता है। इस प्रकार लोकगीत या आदिवासी लोकगीत जीवन की सच्ची अनुभूति के परिचायक होते हैं। क्योंकि यह मानव जीवन की यथार्थ एवं नैसर्गिक अभिव्यक्ति क एक महत्वपूर्ण तथा सशक्त साधन है। ब्रिटानिका विश्वकोश में लोकगीतों को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'वास्तव में लोकगीत उतना ही प्राचीन है, जितना आदिम मानव। यह जंगल के उस वृक्ष के समान है, जिसकी जड़े अतीत की गहराई में दफन होती हैं। फिर भी यह ने शाख, नए पत्ते तथा नया फल निरन्तर देता रहता है।"[1] आदिवासी लोक साहित्य हो या आदिवासी लोकगीत उनमें पूरे जातिगत, मानवी जीवन का प्रतिबिंब झलकता है। क्योंकि वह समष्टीगत होता है। सामाजिक अभिव्यक्ति होने के कारण आदिवासी जीवन में जो मान्यताएं है उन सबका लोकगीतों में भी समावेश हुआ है। जैसे जीवन के हरेक अवसर पर भी गीतों के माध्यम से अपने कार्य-कलापों की अभिव्यक्ति देते हैं। चाहे वह जन्म का अवसर हो, प्रेम संबंध हो या मृत्यू के अवसर, गीतों के माध्यम से ही वह अपना दुःख, सुख आशा, निराशा को अभिव्यक्ति प्रदान करता है। इसलिए इसमें लोकमंगल, लोक का सुख-दुख, लोकोत्सव और लोक की आकांक्षा की अभिव्यंजना होती है। लोकमानस का प्रतिबिंब है ये लोकगीत। 'लोक में प्रचलित लोक द्वारा रचित

1. Encyclopedia of Britianica, Vol. ix p. 448

एवम् लोक के लिए लिखे गीतों को लोकगीत कहा जा सकता है।"[1]

लोकगीतों में निहित हैं हमारी परंपराएं, देवी-देवताओं के प्रति आस्था, मानव के प्रति संवेदना, प्रकृति के प्रति असीमित प्रेम, जीवन के हर पल, हर क्षण को उमंग से भर जीवन जीने की ललक है इसमें रची बस्ती है हमारी संस्कृति। लोकगीतों की विषय वस्तु के प्रति कहना है - 'आदिवासी लोकगीत परंपरा में विषयवस्तु (Content) के स्तर पर वनोपज, कृषि-कर्म, श्रम, पालतू पशु-पक्षी, पर्व-उत्सव, शादी-ब्याहे, जन्म-मृत्यू पनघट, घरेलू औजार-पाती, पुरखे, मिथक, गण, चिन्ह, प्रकृति, ऋतुएँ, मानवेतर अन्य प्राणी-जगत् प्रेम-प्रसंग, आत्म सम्मान केलिए विरोध-संघर्ष बलिदान आदी तो रहते आये ही हैं, जमाने के बदलाव के साथ नयी बातें भी जुड़ती गयी।"[2] याने की आदिवासियों की एक भी ऐसा अवसर नहीं जो लोकगीतों के बिना संपन्न हो।

5.3.1.2 संस्कार गीत

इसमें प्रमुखतः जन्म, विवाह, मृत्यू के अवसर गाने वाले गीत आते हैं। जीवन के मार्मिक प्रसंगों की अनुभूति इनमें होती है। पुत्र, या पुत्री के जन्म के समय तो गाये जाने वाले गीतों में मन का आह्लाद देखा जा सकता है। विवाह संस्कार पर गाये जानेवाले गीतों का अनूठा ही आनंद है।

---

1. उषा सक्सेना - लोक साहित्य एवं लोक संस्कृति, पृ. 46
2. रमणिका गुप्ता - आदिवासी साहित्य यात्रा, पृ. 70

5.3.1.3 विवाह गीत

विवाह मानव-जीवन क सर्वाधिक महत्वपूर्ण संस्कार है। अमीर हो या गरीब, सभ्य हो या असभ्य सबी जातियों में यह संस्कार बड़ी धूमधाम से उत्साह के साथ सुसम्पन्न होता है। यह आशावाद और उल्लास का सुखद अवसर माना जता है। इस अवसर पर परिवार के सभी निकट एवं दूर के सगे-संबन्धी, परिजन, मित्रण आदि एकत्रित होते हैं। इस अवसर पर स्त्रियों के मन में विशेष आनंद रहता है। उनका हृदय असीम आनंद उत्साह से ओतप्रोत हो जाता है। इसका प्रमाण हमें समय-समय पर गाए जनेवाले मांगलिक गीतों में मिलता है जो उन्हीं के द्वारा बनाए एवं गाए जाते हैं। समकालीन हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में इसप्रकार के लोकगीतों के प्रसंग देखे जा सकते हैं।

आदिवासी समाज में विवाह एक मस्ती का संस्कार है। 'पटार पर कोहरा' उपन्यास में रुदिया और परभू का विवाह निश्चित होता है। इतनी ढेरे सारी आदिवासी लड़कियों में से परभू ने रूढिया को चुना। यह रूदिया केलिए बड़ी खुशी की बात थी। इसके पूर्व परभू रूदिया को भगाकर ले जाता है। इसलिए दोनों के विवाह को मान्यता मिलती है। 'मेव' आदिवासी लोगों के विवाह अपनी रूढ़ियों के अनुसार ही संभव होते हैं। विशेष रूप से प्रत्येक रस्म के समय गीत गाये जाते हैं। जिसमें व्यंग्य, मस्ती और छेड़छाड़ होती हैं -

"धौले-धौले चावल, उजालो है भात,
बनड़ा ले-ले कलम दवात,
चलो जा पढ़णा कू
बनड़ा हमने बुलायों एकला ।"[1]

इन गीतों को सुनकर बन्ना को ऐसा लगने लगा गाढी रात में किसी ने उल्लास का घोल गोल दिया है। रूमाली, अंगूरी, रामदेई, तरकीला आदि स्त्रियों के माध्यम से मेवाती संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है।

विवाह गीतों में अत्यंत मार्मिक और संवेदनशील पंक्तियों का इस्तेमाल किया गया है। विवाह के समय जब कन्या की विदाई होती है तब एक कारुणिक गीत गया जाता है जिसका आशय है - 'जिस गांव में तू जायेगी ओधिया, सूखे वृक्ष पत्तों से लद जाएँगे!

बॉझ औरतों की गोद भर उठेगी!
बूढ़ी गायों के थन से दूध टकपने लगेगा।
जहाँ तेरे पाँव पड़ेगे धिया, उजड़े गांव आबाद हो जाएँगे
सेमल और कपास के बीज मोतियों में बदल जायेंगे।...."[2]

इस गीत में विदाई के समय में होनेवाले दुःख और विवाह की शुभकामनाएँ भी देखी जा सकती है। ये लोकगीत साहित्यिक गीतों से भी अधिक मार्मिक और अर्थ धर्मी होते हैं।

'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में 'जाम्बिरा' और

---

1. राकेश कुमार सिंह - पठार पर कोहरा, पृ. 210
2. वही - पृ. 210

मेन्जारी के विवाह की रीति और विवाह गीतों का सचित्र वर्णन हुआ है। 'मंडप तो सज गया। दुल्हा भी है घर पर। अब तक दुल्हन नहीं आएगी, शादी होगी कैसे? 'हो' आदिवासी है ये। 'हो' आदिवासीयों का रस्म तो अलग है। लड़की के घर पर तो शादी होगी नहीं। अतः लड़की को उसके मायके से ससम्मान लाने 'ओर एरा' लोग निकल पड़े लड़के के घर से। घर के रिश्तेदार के पास पड़ोस के कुछ लोग हैं 'ओर एरा' के सदस्य जिनमें कुछ गंभीर बुजुर्ग है तो कुछ हैं देवर जैसे मजाकिया रिश्ते के भावी संबंधी। अब जब लड़की को लाने गए हैं तो उनका सम्मान होगा ही। पांव धुलाकर चढाई पर बिठाना ही काफी नहीं। मीट भात खिलाए बिना, पीका डियंग पिलाए बिना लड़की देकर उन्हें भेजा जा सकता है क्या? मगर बारतियों को चाहे जितना भी डियंग मिले उनका मन कब्र भरने वाला था? इसकी ओर ध्यान देकर कुछ लोगों ने व्यंग्यात्मक गीत गाना शुरु कर दिया -

"देला बालानेरा नाजी नानर डियंग
दाना बालानेरा जगादाअ डियंग
नजी नानर डियंग कामनेमेरे
जगादाऊ डियंग कामनेमेरे
हुड़िं होनमे नेरा नेमालेमे
मालची रेहोले मालची मीसाईहा
बुलुं रेहोले बुलुं मिसाई
पाकड़ मान्डीले चाहकातीहा।"[1]

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 36

इसका अर्थ यह है कि - बड़ी बहन के नाम से जो डियंग बना है, उसे तो हम लोगों को दे दें। साथ ही आपके उपजाऊ खेत के चावल से जो डियंग बना है, उसे भी हम लोगों को दे दें। अगर आप लोग उन दोनों प्रकार के डियंग को नहीं दे सकते हैं तो वधू की छोटी बहन को ही दे दीजिए, जिसे ले जाकर हम लोग नमक मिर्चा लगाकर चखेंगे। इस प्रकार मौज-मस्ति और गीतों से संपन्न है आदिवासी विवाह।

विवाह की तैय्यारियाँ और उस संबन्धी गाने भी प्रचलित हैं। 'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' में इस प्रकार के गीत हैं। आल्ता, काजल, बिंदी से श्रृंगार करके मंडप में ले जाती हैं। लड़का भी लड़की के घर से भेजी गयी धोती, पगड़ी, पहनकर, सज-धजकर मंडप में जा बैठता है। शादी के विभिन्न रस्मों के साथ साथ दुल्हा-दुल्हन के सिर पर तल चुपड़ने की और उन्हें काजल लगाने की होड़ मची हुई है महिलाओं में। लड़की का चिढ़ाने केलिए लड़के की तरफ वाली औरतें गाती हैं -

"कजोड़ा अइ ने मइ कजोड़ा अइ मे।
केड़ा मेड लुन्डुकुड रे कजोड़ा अइ मे।"[1]

याने कि काजल लगाओं मइ, काजल लगाओ। भैंस की तरह जो उभरी हुई आंखें हैं, उनमें काजल लगाओ।

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 37

5.3.2 लोक कथाएँ

अपना श्रम और गम भुलाकर मनोरंजन करने का मौका मनुष्य को लोककथाओं के कारण मिलता है। इनको सुनते समय वे अपनी सारी परेशानियाँ भूलकर सुनने में एकाग्र हो जाते हैं। यही बात लोककथा की प्रस्तुत परिभाषा में दृष्टिगोचर होती है - 'कहानी मनुष्य के लिए अपूर्व विश्रान्ति का साधन है। मन के आयाम हटाने के लिए कहानी मानव-समाज का प्राचीन रसायन है।"[1]

आदिवासी लोककथाएँ लोक विश्वासों के आधार पर विकसित हुई थी। जैसे ही प्रारंभ में निर्भय मनुष्य के मन में जब आकांक्षाओं जन्म लेती हैं, तो उन से भयभीत होकर मानव के अन्तस्तल में विचित्र धारणाएँ जन्म लेती हैं। ये धारणाएँ समयानुकूल आदिम मनुष्य के मन-मस्तिष्क में शुभ एवं अशुभ संकेतों के रूप में अंकुरित होती हैं यह लोक विश्वास जो है वह विश्व के हर समाज में व्याप्त है। आदिवासी समाज में भी ऐसे अनेक मिथकीय परिवेश में बननेवाली लोककथाएँ हैं। इस प्रकार की लोककथाओं की विशेषता बताते हुए डॉ. सत्येन्द्र ने लिखा है 'लोक में प्रचलित और परंपरा से चली आनेवाली मूलतः मौखिक रूप में प्रचलित कहानियाँ लोक कहानियाँ कहलाती है।"[2]

आदिवासी उपन्यासों में अनेक ऐसी कथाएँ मिलती हैं जो जीवन को सुचारू ढंग से जीने का तरीका बताते है। अनेक विषयों पर कथाएँ प्रचलित

1. वासुदेव शरण अग्रवाल - लोककथा अंक, आज कल, मई 1954
2. हिन्दी साहित्य कोश (भाग -1) पृ. 748

है। यह मिथकीय कथाएँ इसलिए महत्वपूर्ण बनती हैं कि किसी विशिष्ट आदिवासी समाज को तब तक संपूर्णता में नहीं समझा जा सकता, जब तक कि उस समाज की ऐतिहासिक और मिथकीय पृष्ठभूमि में वर्णन की गयी कथाओं को समझे बिना।

5.3.2.1 साधु-सन्तों की कथाएँ

नीलय उपाध्याय के उपन्यास 'पहाड' में कोल्हबाबा' कैसे उन लोगों के लिए देवता बनता है इसकी मिथकीय कहानी प्रस्तुत है 'नर से नारायण बने थे कोल्ह बाबा। वह एक माँझी थे जो किसी बड़े किसान के यहाँ काम करते थे। रात-दिन खटते, लेकिन भर पेट भोजन नहीं मिलता। एक दिन खेत की पहरेदारी करते हुए उनकी मौत हो गई। उनकी मौत के बाद गाँव में अकाल पड़ गया। पहले तो लोगों ने इसे प्राकृतिक प्रकोप समझा लेकिन जब बैरिया गाँव का नामी भगत आया तो उसने गाँव के लोगों को बताया कि कोल्ह बाबा देवता बन गए हैं और गांव में फसल तब तक अच्छी नहीं होगी जब तक ऊँची जाति के लोग सुअर की बलि देकर उनकी पूजा नहीं करेंगे। कोई नहीं जानता कि कोल्ह बाबा किसके यहँ कम करत थे और यह घटना कब घटी, लेकिन कोल्ह बाबा को पूजने की परंपरा गाँव में तभी से चली आ रही है। इसप्रकार की अनेक जनश्रुतियाँ अदिवासियों के बीच में प्रचलित हैं।

ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में लोहा गलाने वाले असुर और सिंगबोंगा की प्राचीन लोककथा का चित्रण हुआ है। 'धूणी तपे तीर' में भीलों द्वारा होली के अवसर पर किया जानेवाला गवरी लोक कथा का चित्रण है। 'पठार पर कोहरा' में करमा धरमा की लोककथा का चित्रण हुआ है। कथा का संक्षिप्त सार इस प्रकार है - 'एक राजा के दो राजकुमार थे। एक का नाम करमा था और दूसरे का धर्मा। राजा का एक बेटा करमा व्यापार करने के लिए परदेस चला जाता है। दूसरा बेटा धरमा राजकाज देखनी लगता है। करमा खूब धन कमाकर घर लौटता है। करमा ने सिवान पर ठहरकर भाई धरमा को अपने आने का संदेसा भेजा। भाई के लौटने पर धरमा खुश हुआ। पर धरमा करमदेऊ की पूजा पर बैठ था सौ दोड़कर भाई के गले में नहीं लग सका। इससे करमा को गुस्सा आया। करमा घर पहूँचा और पुजा को छित्तिर-बित्तिर कर दिया। करमदेऊ की डाली उखाड़कर नाली में फेंक दी। करमदेऊ का कोप टूटा सारा कमाया धन, हातीष घोड़ा, छन भर हवा में बिल गया। धन का नशा उतरा तो प्रयाश्चित करने लगा करमा। करमदेऊ के पीछे पीछे कुक्कर बनके डोलने लगा। आखिर करमदेऊ का मन पसीज गया। क्योंकि करम ने खूब तप किया। देवता ने माफी दे दी। धरम के रास्ते पर चलने को कहा। दोनों भाई गले मिले, आज ही के दिन। यानी आज के दिन धर्म और कर्म का संयोग हुआ।

उक्त लोककथा की प्रबोधन करते हुए व्यक्ति को अहंकार, मिथ्याभिमान

एवं धन की लालसा से मुक्ति का संदेश देती है। कथा के धरमा और करमा प्रतीक हैं जो व्यक्ति को धर्म के सच्चे रास्ते पर चलते हुए पवित्र कर्मपरायणता का संदेश देते हैं।

5.3.2.2 मिथकीय कथाएँ

'धूणी तपे तीर' उनप्यास में सृष्टि की उत्पत्ति के बारे में एक मिथकीय कहानी है। उपन्यास में सेंगाजी ने सृष्टि की उत्पत्ति की कहानी सुनाते हुए बताया कि बिरमा व भैमाता पुरुष व नारी के रूप में लाऔलाद रहते थे। आदम-जात पैदा करने की इच्छा रखते हुए उन्होंने धरती माता के हिस्सों से माटी इकट्ठी की और उसे कुम्हार-कुम्हारिन की नाई अलग-अलग गोंदा और जितने रंग की माटी गोंदी गयी उसी रूप के इन्सान बनाये। सबसे पहले भैमाता ने नरनारी का जोड़ा-गढ़ा उस जोड़े में बिरमा ने प्राण फेंके। माटी की नर-नारी की मूरत में जीव पड़ते ही उस जोड़े के हाथ में तीर व कमान दे दिया। विरमा व बैमाता ने जोड़े को आशीर्वाद दिया कि तुम जंगल में रहोगे और जब कोई दूसरा इन्सान तुम्हारे इलाके में घुस कर तुम्हें तंग करे और कलपाये तब तीर-कमान का इस्तेमाल करके उस बाहरी इन्सान को जंगल से खादेड होगे। यह कह कर बिरमा व भैमाता ने जोड़े को पहली आदमजात के रूप में धरती पर पैदा किया और उनकी आदमजात का नाम भील रखा। इसके बाद भैमाता ने दूसरा जोड़ा बनाया और बिरमा ने प्राण डालकर उसे भी सजीव कर दिया। उसके हाथों में भी धनुषबाण दिये और

भील जोड़े की ही नाई उसे आशीर्वाद दिया। इसका नाम 'मीणा' रका। भील जोड़ा निखालिस काली माटी से बनाया और मीणा जोड़े केलिए माटी में थोड़ी भूरी माटी मिलायी। फिर बिरमा के कहने से भैमाता ने अन्य किश्म के रंगरूप वाले इन्सान बनाये जिनकी माटी भूरी, पांडू और लाल थी। लाल माटी के इन्सान को सब से बाद में बनाया। जो इन्सानी जोड़ा अंत में बनाया उसने प्राण पड़ते ही बिरमा से विनती करी कि 'उसे जादू -मंतर की सीख दे'। इस पर बिरमा व भैमाता ने कहा कि 'ऐसी सीख हमने दूसरे इन्सानों को नहीं दी फिर तुम्हें क्यों दें? इस पर लाल माटी का जोड़ा चुप हो गया। आदमजात की सृष्टि करने के बाद बिरमा व बैमाता ने अन्य प्राणियों की रचना की। पूरी सृष्टि की रचना करने के बाद बिरमा व भैमाता ने इन्दर की रचना की और उसे अपना धरम-पूत बना लिया और उसी को माया की विद्या सिखलायी जिससे वह अन्य इन्सानों की बनिस्पत अधिक ताकतवर बन गया। जब बिरमा इन्दर को माया का जादूचाला के गुर सिखा रहा था तो लाल माटी के इन्सानी जोड़े ने छिप कर उस मन्तर को सुन लिया। यह बात जैसे ही बिरमा को पता चली तो उसने उस जोड़े को शाप दिया कि 'तुमने जादूचाला का मंतर तो सीख लिया, पर तुमको इसकी अक्ल कलूकाल में ही आ पायेगी।"[1] इस प्रकार 'पहाड़' उपन्यास में भी प्रचलित एक मिथकीय कथा है। उपन्यास में बैंगा मुनि' ने 'पहाड़' तोडकर रासा बनाने वाले दशरथ मांझी के साथ पहाड को लेकर प्रचलित लोककथा को व्यक्त करते हैं कि -

1. हरिराम मीणा - धूणी तपे तीर, पृ. 163

"ये विद्याचल कुल की पहाड़ियाँ हैं - दुनिया की सबसे अच्छी पहाड़ियाँ। पहाडों के गुरु अगस्त्य मुनि थे। ये पहाड़ियाँ जब अपनी ऊँचाई में हिमालय से ऊपर उठने लगीं तो अगस्त्य मुनि इनके पास आए विंध्य ने उनके पैरों में दंडवत किया। अगस्तय को लगा कि अगर विद्वं भी हिमालय की तरह ऊँचा होता जाएगा तो लोगों के आम जीवन और उनकी ज़रूरतों से पहाड़ बाहर निकला जाएँगै...। उन्होंने विंद्य को आशीर्वाद तो दिया मगर एक शर्त लगा दी,"

"अगस्त्य ने कहा कि जब तक मैं लौटकर वापस नहीं आ जाऊँ, तुम इसी तरह सष्टांगा लेटे रहना।"[1]

कहानी सुनते हुए दशरथ विस्मय से भर गए थे। बैंगा अब बी बता रहा था "अगस्त्य मुनि चले गए और उसके बाद कभी लौटकर आए ही नहीं...। विंद्य ने गुरु का आदेश नहीं टाला और उसी तरह पड़ा रहा, आज तक यह उसी मुद्रा में पड़ा है। इसी कारण इसकी बढ़ती ऊंचाई में न होकर लंबाई में होती चली गई और आज यह सबसे लंबी और ऐसी पर्वतमाला है, जो पूरे देश के लोगों के जीवन में शमिल होकर गुज़रती है।"[2] पहाड़ की यातना भरी यह कथा कल्पना और आदमी के साथ और प्रकृति के साथ भी होनेवाले साजिश को सूचित करते है।

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ' नामक उपन्यास में भी सृष्टि की उत्पत्ति

1. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 180-181

के बारे में प्रचलित मिथकीय कथा का उल्लेख है। उपन्यास में जाम्बिरा (ततंग) सगेन को पुरानी कहानी याद आते है" "धरती पर हमारे पुरखों के आने से बहुत पहले ही 'मरंग बोगा' इधर से गुज़र चुके थे बड़ा सा हल लेकर। खेती करने की इच्छा थी शायद। हल चलाने के बाद ज़मीन को समतल करने केलिए मोई देना था। इसके लिए उन्होंने अडुगोम चलाया। इतना बड़ा इलाका। कहीं-कहीं छूट गया। वहीं घाटियाँ बनीं। दरारें पड़ी गडढ़े बने। उन दरारों और गडढों में बरसात का पानी पड़ा तो नदियाँ बनीं, तालाब बनी।"[1] सृष्टि और उत्पत्ति संबंधी ऐसी अनेक कथाएँ आदिवासी समाज में।

5.3.2.3 व्यवहार ज्ञान संबंधी कथाएँ

आदिवासी लोग ने समूहिकता, समानता सहआस्तित्व पर विश्वास करनेवाले हैं। उनके मूल्यों को मज़बूत कराने केलिए कई लोककथाएँ उन्हीं के बीच प्रचलित हैं। व्यावहारिक ज्ञान और व्यावहारिक पक्ष को और भी अच्छे ढंग से निभाने का उद्देश्य है इने कहानियों में।

'मरंग गोडा नीलकंठ हुआ' उपन्यास में मरंग गोडा और सारंडा जैसे गाँवों में युरिनियम के अलावा लोहा भी निकलता था। इस प्रकार प्राकृतिक संसाधन का नाश करनेवाले लोग और उनके परिणाम कैसे थे यह बतानेवाली लोककथाओं का उपन्यास में जिक्र किया गया है। उपन्यास में -

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 108

"ततंग युवा लोग (सगेन) के साथ बाँढते है - "मैं आज की बात नहीं कर रही। मैं तो उस प्राचीन काल की बात कर रही हूँ जब वे हमारे आसपास रहते थे। 'हाँ तो उन दिनों वे उन इलाकों के हरे भरे जंगल के पेड़-पौधों को काटकर लोहे की भट्ठी में झोंका करते। धीरे-धीरे बड़ी संख्या में जंगल के पेड़ पौधे नष्ट होने लगे। सभी प्राणी परेशान हो उठे। सिंगबोंगा से प्रार्थना करने लगे कि वे उनकी रक्षा करें।'

सिंगबोंगा वे अपने दूतों के मार्फत बारी-बारी से अस्सुरों के पास पैगाम भेजा कि वे लोहा गलाने का काम बंद करे।

..... पर जब असुरों ने उन देवदूतों की बात नहीं मानी तब सिंगबोगा ने अपने उड़नेवाले घोडे को भी उन्हें समझाने केलिए भेजा। जब असूरों ने इनमें से किसी की बात नहीं मानी और अपना काम करते रहे.... जंगल का विनाश करते रहे, सिंगबोगा को उन पर अत्यंत गुस्सा आया। उन्होंने खुद जाकर उन्हें मजा चखाने का निर्णय लिया।"

फिर उन्होंने एक खुजली वाले नौकर का रूप धारणा किया और असुरों की बस्ती में जाकर एक बूढ़ा बूढ़ी के घर में काम करना आरंभ किया। वहाँ काम करने के दौरान सिंह बोगा ने कई चमत्कार कर दिखाये पर कोई उन्हें पहचन नहीं पाया। एक दिन असुरों ने उस खुजली वाले नौकर को मारने केलिए उसे लोहे की भट्ठी में डाल दिय। जब थोडी देर बाद वह बिना

जले भट्ठी से सोना लेकर बाहर निकले आया तो असुर भौंचक्के रह गए। सोने के लालच में वे सभीभट्ठी में कूद पडे और जलकर भस्म हो गए। इस तरह चालाकी से सिंगबोंगा ने जंगल का नाश करनेवालों का नाश किया था।

इसी उपन्यास में ओर एक कथा भी जो आदिवासी लोकमर्यादा को लेकर प्रचलित है। सारंडा गाँव में प्रचलित एक लोककथा 'चारिबा' ने 'सगेन' को बताया है। प्रकृति नियम को तोड़नेवाले आदमी को सज़ा कैसे मिलता है इसका प्रमाण है यह लोककथा। वहाँ के छोटे से जलाशय की बारे में इशारा करते हुए चारिबा सगेन से कहते है - 'एक बार हमारे गाँव का एक आदमी इस जलाशय में उतरा था मछली पकडने। उसकी बेटी किनारे खड़ी थी। वह आदमी पानी में डूबकी लगा लगाकर गमछे में मछली पकड रहा था और मछली की गर्दन मरोड़ मरोड़ मरोड़कर उसे किनारे फेंकता जा रहा था। बेटी उन मछलियों को उठा-उठाकर अपने गमछे में रखती जा रही थी। मछली उठाते उठाते अचानक बेटी ने देखा कि मछली की जगह उसके पिता का सिर आकर गिरा है धप्प से। किसी ने उसके पिता के सिर को मरोड़कर फेंक दिया था मछली की तरह। धड़ गायब था। बहुत ढूँढ़ने पर भी वह धड़ नहीं मिला गाँववालों को। यह बी पता नहीं चला कि किसने उसका सिर मरोड़ा। बड़ी विचित्र बात है। बड़ी ही रहस्यमय।"[1] कहती है कोई बहुत ही गुस्सैला बोंगा रहते है इस जलाशय में। इसलिए तब से मछलियां पकड़ना तो दूर कोई इस जलाशय में पाव तक नहीं दुबाता....।" आखिर क्यों ऐसा किया

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 133-134

होगा बोंगा ने? इसके बारे में कुछ लोग तो कहते हैं कि अपने लालच के कारण जान गवांनी पड़ी थी उस आदमी को।

किस चीज़ का लालच?

हमेशा की तरह गाँववालों के सामूहिक शिकार पर जाने का दिन निश्चित हो चुका था। समूह में मछलियाँ भी पकड़नी थीं। पर वह आदमी ज़्यादा मछलियों की चाह में चुप के से आकर मछलियाँ चूरा रहा था। अब जब हमारे जंगलों पर, नदियों पर जलाशयों पर पूरे गाँव का, समूह का अधिकार होता है तो कोई कैसे उसका उल्लंघन कर सकता है? उसकी सजा तो उसे मिलेगी है। कहती हैं उस एक आदमी के कुकृत्य से यहां का बोंगा अब तक नाराज़ है।"[1]

आदिवासी संस्कृति की विशेषताएं हैं सामूहिकता, सहअस्तित्व। इन्हें आगे बढ़ाने केलिए ऐसी लोककथाओं और लोक गीतों का परिचय दिया जा रहा है। व्यावहारिक ज्ञान की यें कथाएँ सिर्फ सुनने के लिए नहीं इनके अनुसार है उन लोगों के जीने का तरीका भी।

5.4 आदिवासी संस्कृति में प्रकृति

प्रकृति दृश्यमान खगोलीय व भौगोलिक तत्वों की एक नैसर्गिक सृष्टि है। इसका रूप मौलिक है साथ ही परिवर्तन शील भी। यह प्राणी जगत्

---

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 134

से पृथक परिवेश है जिसमें प्रकृति के जड़ व चेतन दोनों तत्वों का अस्तित्व देखे जा सकते हैं। प्रकृति और संस्कृति के साथ गहरा संबंध है। संस्कृति का सीधा संबन्ध मानव समाज से है जिसकी निर्मिति और विकास संस्कारों पर निर्भर है।

मूलतः संस्कृति मानव निर्मित होती है, लेकिन मनुष्य का जीवन अन्ततः प्रकृति पर निर्भर है इसलिए प्रकृति तत्वों से संस्कृति का जुड़ाव अनिवार्य है। प्रकृति और संस्कृति के परस्पर संबंध पर विचार करते हुए हरिराम मीणा का कथन है कि 'जिन मानव समुदायों की संस्कृति प्रकृति से निकट का संबन्ध बनाकर विकसित होती हैं वे अधिक सौन्दर्यबोधी, आनन्ददायक व कल्याणकारी होती हैं और जो संस्कृति प्रकृति से दूर हटती जाती हैं वे शास्त्रीय, वैयाकरणीय औपचारिक, प्रतिमान आधारित सजावटी तथा नीरस बनती चली जाती हैं।"[1] आदिवासी संस्कृति जो है प्रथम श्रेणी में आनेवाली विशिष्ट संस्कृति है।

5.4.1 प्रकृति चिकित्सा

हमारे देश में जड़ी-बूटियों की भारी संपत्ति है विशेषकर जंगल में। मनुष्य के काम आनेवाली वनस्पतियां-वृक्ष लतायें, झाडियां, जड़ी-बूटियां, घासों सब जंगलों से प्राप्त की जाती हैं। जड़ी-बूटियों से इलाज की परंपरा हमारे देश में अत्यंत पुरानी है। आदिवासियों में जड़ी-बूटियों का ज्ञान

---

1. गंगा सहाय मीणा - आदिवासी चिंतन की भूमिका, पृ. 38

पीढ़ियों से चलता रहा है।

संस्कृत में इन्हें पादप, वृक्ष, तरु, वनस्पति, भुसह, भूतनय, विरुद्ध आदि कहते हैं तथा हिन्दी में पेड़-पौधे, झाड़-रूख आदि नामों से पुकारते हैं उनमें से जो पौधे औषदोपयोगी हैं और अपने चमत्कारिक प्रभाव से मानवों एवं पशुओं के कष्ट दूर करते हैं, उन्हें 'जड़ी-बूटी' शब्द से सम्बोधित किया जाता है। इस जड़ी-बूटियों को इस्तेमाल करके जो चिकित्सा पद्धति है वह है प्रकृति चिकित्सा। यह चिकित्सा पद्धति आदिकाल से मौजूद है। चिकित्सा केलए जितनी जड़ी-बूटियाँ आवश्यक हैं वे सब प्रकृति के चारों ओर तथा वन-जंगलों पर यह सर्वत्र उत्पन्न होती है। फिर भी आज मनुष्य इन्हें पहचानता भी नहीं है। यदि पहचानता भी है तो इनके गुणों से अपरिचित रहने के कारण इसने लाभ उठाने में असमर्थ है। आदिवासी समाज के पास आज भी औषधियों के बारे में अद्भुत जानकारियाँ हैं। आज भी उनके बीच इसका इलाज भी प्रचलित है। हमारे देश के भीतर छः ऋतुएँ तथा तीन मौसम होते हैं। इसके कारण हमारे देश में प्रायः सभी प्रजातियों की वनस्पतियों उगती हैं। लेकिन आज बढ़ते प्रदूषण तता जंगलों की अन्धाधुन्ध कटाई के कारण पेड़-पौधे लुप्त होते चले जा रहे हैं।

मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ नामक उपन्यास में प्रकृति चिकित्सा में माहिर एक कूंबीराज (वैध) का चित्रण है। 'जड़ी बुटियों से दवा बनाने में माहिर है वह। एक से एक बीमारियों को ठीक करना जानता है। गाँव बस्ती

के लोगों की बात तो छोड़िये, जंगल विभाग के अंग्रेज़ अफसर भी आते हैं उससे दवा लेने । एक अंग्रेज़ को तो उसके इस जंगली इलाज पर इतना भरोसा है कि वह दिन रात पड़ा रहता है। उसके पास उसकी यह विद्या सीखने।"[1]

5.4.2 सामूहिक खेती

आदिवासी लोग श्रम पर विश्वास करनेवाले हैं। इसलिए वह समूहिक खेती को मानता है। एक दूसरे का श्रम और दुर्दशा को देखकर उन्हें सहारा देना महत्वपूर्ण जीवन तत्व है। वे आर्थिक लाभ से परे समानता और सहिष्णुता पर विश्वास करनेवाले हैं।

'गगन घटा घहरानी' में श्रम आदिवासी जीवन में कितना महत्वपूर्ण है यह 'पैर गुनी' नामक पात्र की चारित्रिक विशेषता के साथ व्यक्त किया जाता है - पर दूसरों के श्रम पर उरॉव का बच्चा नहीं पलता, चाहे वह अपंग ही क्यों न हो। धरती पर खड़े होने तक की देर है, चलना-दौड़ना शिकार और खेती करना तो वह स्वयं सीख जता है, काम करते हुए।"[2] यहाँ दूसरों की आश्रय के बिना अपने आप में विश्वास और श्रम करने की महत्व को सिखाते हैं।

इसी उपन्यास में 'लुपुंगा' नामक गाँव के बारे में जो कहा है इससे वहाँ की सामूहिकता का चित्र मिलता है - 'यहां सब कुछ सबका है। सबका

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 135
2. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 17

सबके घर में आना-जाना, घुसना-निकलना। कौन किस घर का है, जानने में बहुत वक्त लगा सोनाराम को। बहुत से घरों में लकड़ी के दरवाज़े नहीं हैं। सामने आँगन से बाहर लकडी के दो खम्भों में छेदकर बाँस की लाठियाँ लगादी गई हैं। कोई जानवर घुस कर कुछ नुक्सान न कर दे। बस। इस गांव के लोग कितनी जड़ी बूटियाँ दवाई-बीरो जानते हैं । ये पेड़ मुरदू के जंगलों में भी देशें हैं, पर सब अस्पताल दवा खाना ही जाते हैं।"[1]

श्रम की महत्व घोषित करते हुए समर शेष है उपन्यास में सभ्य कहनेवाले समाज के कमकाज और आदिवासी समाज के लोगों में श्रम या काम करने के तरीका में क्या भेदभाव है? इसका उल्लेख हैं - जीरन अपने गाँव के काम के बारे में सोचती है कि अपने घर-गाँव का कम रचनात्मक प्रकृति का था और वह करके उसे श्रम का पता भी नहीं चलता था। घर में झाड़ू-बुहारू कर उसको रंगना-पोतना, दीवार पर चित्रकारी करना बाद में उसे सुख और सन्तोष देता। खेत में गिरे पसीने से जब धान के पौधे लहलहा उठते तो उसे स्वर्गिक आनन्द मिलता, लेकिन यहाँ पत्थर तोड़ने में इस तरह का कोई सुख-संतोष वह नहीं पाती। लगता जैसे वह एक मशीन की तरह अनवरत चली जा रही है।

5.5 आदिवासी धर्म

किसी भी धर्म के प्रति उपेक्षा भाव न रखने वाले, सभी धर्म को

1. मनमोहन पाठक - गगन घटा घहरानी, पृ. 52

मानने वाले, सम्मान रखने वाले हैं आदिवासी लोग। फिरभी आदिवासी लोगों की एक विशिष्ट धार्मिक मान्यताएँ हैं। वह 'सरना' धर्म पर विश्वास रखता है। 'सरना' एक धर्म से अधिक आदिवासियों के जीने की पद्धति है जिसमें लोकव्यवहार के साथ पारलौकिक आध्यात्मिकता या आध्यात्म भी जुडा हुआ है। 'सरना' धर्म किसी धार्मिक ग्रंथ और पोथी का मोहताज नहीं है। पोथी आधारित धर्म में अनुगामी नियमों के खूँटी से बाँध गया होता। जहाँ वर्जनाएँ हैं, सीमायें हैं, खास क्रिया क्रमों को करने के खास नियम और विधियाँ हैं, जिसका प्रशिक्षण खास तरीके से दिया जाता है।

डॉ. रामदयाल मुंडा के अनुसार 'हम आदिवासियों की सहिष्णुता पर आधारित एक विशिष्ट प्रकृतिवादी धर्म दर्शन है जिसे आदि धर्म (सरना) कहा जा सकता है।"[1] सरना अनुगामी प्रकृति का पूजा करता है। वह घर के चुल्हा, बैला, मुर्गी, पेड़, खेत-खलिहान, चाँद और सूरज सहित संपूर्ण प्राकृतिक प्रतीकों की पुजा करता है।

'सरना' मुंडारी भाषा का शब्द है जिसे अंग्रेज़ी में 'सेक्रेड ग्रोव' कहा गया है अर्थात् 'पवित्र वृक्षों' का समूह। यही संताली में 'जाहेर', झारखंडी, बंगला में जाहिरा, 'जाहिर स्थान' या 'गराम थान' के नाम से जाना जाता है। इस 'जाहिर स्थान' या 'सरना स्थान' के बारे में बास्ता सोरेन ने लिखा है - आदिवासियों का विश्वास है कि बोगाओं को संतुष्ट नहीं करने पर जब

1. जनमत - सितंबर 2003, पृ. 35

आदिवासी नर-नारी अपने कार्य के दौरान पहाड़, जंगल एवं विभिन्न स्थानों में घूमेंगे या फिरेंगे तो उस समय उनमें अचानक भय पैदा हो सकता है या उनके शरीर में पीड़ा उत्पन्न हो सकती है। इससे उनके जीवन में परेशानी आ सकती है। इसलिए किसी भी नई जगह पर जहाँ ग्राम का निर्माण नहीं हुआ, वहाँ गृह निर्माण के पूर्व वे एक सीमा के भीतर रहनेवाले बोंगाओं को खोज निकालते है एवं उन्हें एक जगह लेकर प्रतिष्ठित करते हैं। भूखंड की एक निश्चित सीमा को अंतर्गत बोंगाओं को एकत्र कर एक छोटे से भूखंड में, जहाँ शाल वृक्षों का समूह रहता है, उन्हें प्रतिष्ठित कर देते हैं। जिसे सरना स्थान या जाहिर स्थान के रूप में जाना जाता है। विशेष आदिवासी समुदायों द्वारा प्रतिदिन 'सरना स्थान' या 'जाहिर स्थान' में उन समुदायों के प्रधान पूज्य बोंगों को प्रतिष्ठित किया जाता है।

आदिवासी संस्कृति में ईश्वर या आत्मा नहीं, प्रकृति प्रमुख है, जिसके साथ मनुष्य जीता, पलता, बढ़ता है और फिर खत्म हो जाता है। मरकर भी वह प्रकृति के विकास केलिए खाद बन जाता है। उसका कंकाल, उसकी हड्डियां, धरती को उर्वर बनाती है; धरती पर कब्जा नहीं करतीं। आदिवासी मान्यताओं के अनुसार उसका मिट्टी का अंश मिट्टी में, पानी का पानी में ऊर्जा आग में बदल जाती है और श्वास हवा में मिल जाता है। यह आस्थाएँ 'आदि धर्म' में भी चिन्हिता है।"[1]

---

1. रमणिका गुप्ता, सं. विशाल शर्मा, दत्ता कोल्हारे, आदिवासी चेतना, साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन, पृ. 35

आदिवासी धर्म हो, जीवन शैली हो उसमें मनुष्य और प्रकृति तथा उसके जीव-जंतु साथ-साथ जीते हैं, साथ-साथ कष्ट झेलते हैं, हँसते-गाते हैं, रोते बिसूरते हैं। पहाड़, नदियाँ, हवा या आग आदि को वह देवता मानकर 'बोंगा' कहता है। ये डरते नहीं उससे बल्कि उनसे हिल-मिलकर रहते हैं। इनके बोंगा (देवता) इन्हें नियंत्रित भी करते हैं, तो दोस्त की तरह सलाहकार की तरह। यह बोंगा इन्हीं के बीच इन्हीं के अंश हैं। इसलिए आदिवासियों को अपने देवता के लिए कभी किसी मंदिर और मास्जिद की दरकार नहीं होती। पूरी धरती, पूरी वनस्पति या प्रकृति उनकी है, जिसकी रक्षा करना ये अपना कर्तव्य मानते हैं और इनका यह भी विश्वास है कि प्रकृति इन्हें पालती-पोसती है। आदिवासियों का विश्वास है कि पहाड़ में विशेष पत्थरों, पेड़ों, जलाशयों कटे हुए पेड़ के अवशेषों में शक्ति विद्यमान रहती है। उसे लोग बोंगा कहते हैं।"[1] आज जो है उनके मूल धर्म से अलग होने की साजिश सब कहीं है।

आदिवासियों ने खुद कभी भी धर्म परिवर्तन के प्रयास नहीं किए, बल्कि इसके लिए उन्हें बाध्य किया गया है। डॉ. गोविन्द गारे अपने एक लेख में स्पष्ट करते हुए कहते हैं - 'अकाल, बाढ़ तथा अन्य आर्थिक समस्याओं से पीड़ित तथा सवर्ण हिन्दुओं के अत्याचारों से सताए हुए आदिवासी, ईसाई बने हैं। अन्य आदिवासी जनता मिशनरियों के प्रलोभन का शिकार नहीं बनी। ... कुछ आदिवासियों ने ईसाई-धर्म स्वीकार किया है तो उसमें वे दोषी नहीं हैं। ईसाई मिशनरी तथा संघ परिवार के वनवासी कल्याण आश्रम वालों

1. रमणिका गुप्ता, सं. विशाल शर्मा, दत्ता कोल्हारे, आदिवासी चेतना, साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन, पृ. 35

में कोई भी फर्क नहीं है। ये आश्रम वाले तथाकथित हिन्दू सुधारक अपने मनुवादी तथा परंपरावादी विचार आदिवासी लोगों पर लादकर उन्हें सच्चे अर्थों में धर्मान्तरित करते हैं। मिशनरियों के समान वे भी उतने ही दोषी हैं, इसे नकारा नहीं जा सकता।"[1]

आज धार्मिक दृष्टि से आदिवासियों के साथ अनेक तरह के अन्याय हो रहे हैं। जैसे ही धार्मिक विश्वासियों की धावा है - आदिवासियों को शिक्षा देंगे, उन्हें होशियार बनाएँगे, ऐसा उद्देश्य घोषित करना। ईसाईयों का आदिवासियों के बीच काम इस प्रकार चालू करते है। उन्होंने आदिवासी इलाकों में दूर जंगल में कठिन स्थानों पर भी बडे पैमाने पर स्कूल खोले और आदिवासी बच्चों को पढ़ाया, होशियार बनाया, यह अच्छी बात है। लेकिन इसके पीछे उन्होंने आदिवासियों को ईसाई धर्म सिखाने का काम भी किया। समाजिक कल्याण और विकास के लॉलीपॉप दिखाकर अपने अपने धर्म में आदिवासियों को लने का प्रयास आज सर्वत्र हो रहा है। हमारे धर्म में आओ, हम तुम्हारे प्रश्न हल करेंगे, यह सभी धर्मवाले कहते हैं, और इससे उनके धर्म पर बडा हिस्सा मिलना भी है।

आदिवासी हिन्दू नहीं है। लेकिन आज आदिवासियों में से पढ़े-लिखे नौजवानों को प्रतिष्ठा का प्रलोभन दिया जा रहा था। इसलिए पढ़े-लिखे आदिवासी समाज में प्रतिष्ठित होकर ब्राह्मण जाति से शादी करते है। यह भी नहीं बाह्मणों द्वारा विवाह कराया भी जाता है।

1. राम वचन यादव - आदिवासी संस्कृतिः पहचान का संकट, लेखन से युद्धरत म आदमी, पृ. 44. जुलाई -2016

'काला पादरी' उपन्यास में फादर मैथ्यू ने बताया है कि किस तरह वे आदिवासियों को धर्मांतरित करने में कामयाब हुए - 'इनके (आदिवासियों) पास ईश्वर का कोई इमेज नहीं था डियर जिसकी ओर से आस भरी निगाह के साथ देख सकें, जब हम यहाँ आया तो राजा भी अपना देवी को प्लाट कर रहा था। यू नो हाउ टू प्लांट ए थाट, इट इज़ इम्पॉर्टेंट, हमने बी प्रबु यीशु की इमेज प्लाट कर दी, इट वाज़ ए फार ऑफ इमेज, जिसमें जीत हमारी हुई।"[1] भोली-भाले आदिवासियों को सुविधाएँ और आर्थिक उन्नति के बारें में कहकर उनके धर्म में फँसाने की साजिश यहाँ देख सकते है।

5.5.1 पूजा पद्धति

आदिवासी लोगों की पूजा-पद्धति अपने-अपने परंपरागत विधिविधान के अनुसार निर्धारित है। मुख्यतः मातृदेवी और पितर देवता की पूजा होती है। प्रकृति पूजन के कई पर्व मनाये जाते है। साल वृक्ष, करम वृक्ष, पीपल वृक्ष और पहाड़ की भी पूजा होती है।

आज धर्मांतरण के कारण आदिवासियों का एक वर्ग भिन्न पूजा-पद्धतियों में विश्वास करने लगा है। अब हिन्दू हो या ईसाई आदिवासी अपने अपने विश्वासों के अनुरूप मंदिर और चर्च भी जाते हैं।

5.5.2 पुरखों के प्रति आस्था

आदिवासी लोग अपने पूर्वजों के प्रति अदम्य प्रेम करते हैं। वे उन्हें

1. तेजिन्दर - कालापादरी, पृ. 58

ही अपने जीवन की मंगल कारी कार्यों का उत्तरदायी समझते हैं। पूर्वजों वह समय समय पर याद करते है जैसे संकट के अवसर पर भी खुशी के अवसर पर भी। 'आदिवासियों में पूर्वज हैं, पर भागवान नहीं। उनका बोंगा है, जो उनका रक्षक हैं। रक्षा भी किससे? चट्टानों पूज्य होती है। उनके खेत सुरक्षित रहें, सूखा न पडे, कीडा न लगे, जानवर न खा जाएं, बिजली न गिर जाए, आग न लग जाए, बीमारी न आ जाए, ओले न पड़े आदि-आदि। विपत्तियों को रोकने केलिए वे अपनी पूर्वजों से प्रार्थना करते हैं कि वे उन्हें सीख दें, रास्ता बताएं।"[1]

आदिवासी देवताओं के मन्दिर नहीं होते। वे उनके साथ ही रहते हैं, मित्र होते हैं, उन्हीं की तरह पहले कभी जिए हुए पूर्वज होते हैं। इसलिए वे काल्पनिक मनुष्य नहीं होते।

5.5.3 शकुन /स्वप्न और भविष्यवाणी

आदिवासी लोगों का विश्वास है कि परम सत्ता मनुष्यों को कुछ खतरों से आगाह करती और उन्हें सतर्क रहने की भविष्यवाणी देती है। उदाहरण के तौर पर यदि कोई 'फिकार' (पागल सियार) किसी गाँव के निकट चिल्ला रहा हो तो यह गाँव में किसी की मृत्यु का संदेश है। यदि बिना किसी प्रत्यक्ष कारण का कोई पेड़ अथवा डाली आस-पास गिर जाए तो इसका अर्थ है कि वह किसी बड़े दुर्भाग्य से पीड़ित होने वाला है।

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी चेतना, साहित्य और संस्कृति का मूल्यांकन, पृ. 37

उसी प्रकार स्वप्न में गुंगू पहनना, नये घड़े उठाकर ले जाना आदि स्वप्न देखना बाघ से मारे जाने की पूर्व सूचना होती है, यदि कोई दूसरे दिन जंगल जाता है। यदि कोई लकड़ी का गट्ठर अथवा कुन्दा स्वप्न में उठाकर जा रहा है तो यह चिन्ह है कि कोई प्रिय मित्र अथवा कोई सदा-संबंधी शीघ्र हि मर जायेगा, यदि कोई स्वप्न में मछली मारने, खुखड़ी चुनने, खेत का बंग्ध बनाने, भवन बनाने के इन्टीं किसी भी कार्य में व्यक्त है तो यह किसी मृत्यू संदेश की पूर्व सूचना है।

वन्य जीवन में जंगली जानवरों का निवास भी स्वाभाविक है। जंगल तो जंगल है। वह सबकेलिए है। इसीलिए आदिवासियों को प्रकृतया कुछ जानवरों से इतना लगाव हो जाता है कि वे एक दूसरे का कभी अहित नहीं करते। परंतु कुछ जानवरों से हमेशा सतर्क रहने की आवश्यकता होती है। मरंग 'गोड़ा नीलकंठ हुआ' में कई जगहों पर लेखिका ने वन्य पशुओं तता आदिवासियों के अतः संबंध का अत्यंत सूक्ष्मता से चित्रित किया है। जैसे 'मचान पर बैठा-बैठा जाम्बीरा सोच रहा है - 'दो तीन दिन से बारिश नहीं हुई हैं। पर टर्राते चोके (मेंढक) और सामने पेड़ों के झुरमुट में यहाँ-वहाँ झुंड में टिमटिमाते इपिपियुंग (जुगनू) बारिश का संकेत तोड रहे हैं।"[1] अर्थात् प्राकृतिक दैनंदिन कार्यों और आपदाओं, विपदाओं का पूर्वाभास कराने में जीवन कितना सशक्त माध्यम है यह इस से समझा जा सकता है।

आज विज्ञान भी यह मानता है कि पशु-पक्षियों में भूकंप आदि

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 44

प्राकृतिक आपदाओं को भाँपने का सामर्थ्य हमसे कई गुना अधिक होता है। चीटियों का असमय बिलों से बाहर निकल आना या पक्षियों का बेवजह चह चहना इन घटनाओं का संकेत देता है। जाम्बीरा को इन जानवरों से प्राकृतिक ही नहीं बल्कि अप्राकृतिक दुर्घटनाओं की भी जानकारी मिलती है। हाथियों के झुंड द्वारा उसके फसल तथा परिवार में होनेवाली त्रासदी का संकेत उसे पहले ही होने लगता है "ये आज इतने सारे सियार एक साथ फें-फें-फें की विचित्र सी आवाज़ करते हुए इसी टोले के आसपास क्यों उछल-कूद करते फिर रहे हैं? कहीं कोई अपशगुन तो नहीं होने वाला?"[1] इसलिए क्योंकि वही सियार रोज पेटभर जाने के बाद चुपचाप खिसक लेते हैं और दूर जाकर हुआँ-हुआँ करते हैं, परंतु आज उनकी बोली विचित्र है, यानी कोई अनहोनी होनेवाली है। ये सब जो है उनके और जीवजंतुओं के मध्य पारस्परिक संबंध को दर्शाता है।

5.5.4 अंधविश्वास

लंबी संस्कृति की परंपरा कोई भी हो उसमें कुरीतियां, कुप्रथाएँ, अपनी किस्म के कर्मकाण्ड और अंधविश्वास पनपते हैं। आदिवासी समाज भी इससे मुक्त नही है। आदिवासियों के जीवन में व्याप्त सामाजिक रोग है डायन प्रथा।

यह आदिवासी समाज के अंधविश्वास का परिणाम है। डायने वास्तव में पीढ़ियों से चली आ रही सामाजिक पितृसत्ता को चुनौती देती हैं।

1. महुआ माजी - मरँगा गोड़ा नीलकंठ हुआ, पृ. 44

यह स्त्रियों के आर्थिक अधिकारों को नष्ट करने और उन्हें अधीन रखने की साजिश है। परंपरा और अंधविश्वास की आड़ में डायन होने का विश्वास उन महिलाओं के प्रति कराया जाता है, जिनके पास थोड़ी सी आर्थिक क्षमता होती या हो सकती है।

5.6 रीति-रिवाज़ एवं प्रथाएँ

आदिवासियों को अपने रीति-रिवाज़ हैं, प्रथाएँ हैं, नियम-कानून है, जिन्हें वे अपने ढंग से व्यवहार में लाते हैं। जैसे विवाह के अवसर पर हो या उत्सव-त्योहार पर हो या हाट-बाज़ार के बारे में हो सब कुछ विशेष रीतियों से संपन्न है। इससे परंपरागत सामाजिक प्रथाओं, रीतियों और नियम कानूनों की जानकारी एक पीढ़ी से दूसरी पीढी में हस्तांतरित हो रही है।

'धार' उपन्यास में आदिवासी जीवन शैली के बारे में यों बताया गया है - "आप को एक भी आदिवासी का घर गंदा नहीं मिलेगा। न अंदर ने, न बाहर से चाहे वे सुअर ही क्यों न पोसे। आदिवासी औरतों सर पर एक गमछा रख लेंगी जो पीठ के नीचे तक फैली होगा, चाहे वे कोयला ही क्यों न दो रही हो, जबकि दूसरी देशवाली औरतों में ये चीज़ आपको नहीं मिलेगी।"[1] लाने कि शुचिता एक विशेष जीवन रीति के रूप आदिवासी समाज है।

'काला पादरी' उपन्यास में मरने के बाद दाह संस्कार के बारे में

---

1. संजीव - धार, पृ. 39

प्रचलित एक रीति-रिवाज़ का चित्रण हैं-... उरांव मृतक का सम्मान करते थे। वे शव को नहला कर, उसे अर्थी पर सजा कर अंतिम संस्कार के लिए ले जाते थे। कहते हैं कि पुराने समय में सूखे मौसम के दौरान मृतकों को जला दिया जाता और उनके अवशेष जमा कर मिट्टी के छोटे घड़ों में रख दिये जाते थे। बीज बोने के बाद मृत्यु होने पर शव को दफ़ना दिया जाता तथा फ़सलों के कटने के बाद उन्हें कब्र से खोद कर बाहर निकाला जाता था। फिर उन्हें जला दिया जाता था। उनके अवशेष जमा कर लिये जाते जो मृतक के घर के पास किसी पेड़ पर लटका दिये जाते थे, जहाँ वे दाह संस्कार की विधि के पूरे किये जाने की प्रतीक्षा करते थे। पर पिछले कुछ वर्षों से उरांव जाति के लोग अपने मृतकों को दफ़नाने के रिवाज़ रखते हैं। वे यह विश्वास करते हैं कि उनके मृतक शोक की अवधि और दाह संस्कार के पूरा हो जाने पर अपने पूर्वजों से जा मिलते हैं। गर्मी की अवधि में पूर्वजों को सुअर और हंडिया का तर्पण करने की भी रीति है।

धर्मांतरण आदि कारणों से आदिवासी संस्कृति में रीति-रिवाज़ों में अनेक बदलाव आ गये हैं जैसे ब्रिटेन के प्रसिद्ध नृतत्व-वैज्ञानिक वेरियर एल्बिन ने कहा है कि - 'मिशनरियों की आदिवासियों के प्रति असहिष्णुता की वजह से बहुत सारे अच्छे सामाजिक रीति-रिवाज़ तो खत्म हुए ही, यहाँ तक कि नृत्य, गीत तथा तॉत बुनायी जैसे उन्नत सांस्कृतिक - आर्थिक क्रिया-कलाप भी ध्वस्त हो गये।"[1]

1. वीरभारत तलवार - झारखंड के आदिवासियों के बीच, पृ. 33

5.6.1 वैवाहिक प्रथाएँ

आदिवसी समाज में विवाह के रस्मोरिवाज़ अलग-अलग हैं। जैसे कहीं विवाह केलिए युवाग्रह या घोटूल का सहारा लिया जाता है। युवाग्रह एक ऐसा सामाजिक संगठन है जो जनजातीय क्षेत्र से बाहर की दुनिया में जिज्ञासा, उत्सुकता और कौतूहल के भाव से चर्चित रहा है। विभिन्न समुदायों में इसे अलग-अलग नामों से पुकारा जाता है। यह एक प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र की तरह काम करता है, गुरुकुल की तरह । जहाँ आदिवासियों के किशोंरों और किशोरियों को सह शिक्षा केलिए किसी अनुभवी ग्रामवासी की देख रेख में रखा जाता है। मध्यप्रदेश के बस्तर क्षेत्र में इस तरह के युवाग्रहों को घोटुल कहते हैं। उराँव क्षेत्रों में घूमकूड़ियाँ, उत्तप्रदेश जनजातियों में इसे रंगबंग कहा जाता है, और मुंडा-हो जनजाति क्षेत्रों में गीतिओरा तथा नागा क्षेत्र में इखूइन्पि।

जब से तथाकथित सभ्य समाज ने जनजातियों के जीवन में अपनी कुंठाओं के साथ ताक-झांक शुरु की तो घोटूल प्रथा कालान्तर अपनी प्रासंगिकता खोने की स्थिति में है। यह परंपरा भी आदिवासी जीवन की अन्य कई परंपराओं की तरह समाप्त प्राय हो चुकी है।

5.7 आदिवासी संस्कृति और भाषा

भाषा एक सामाजिक शक्ति है। भाषा किसी भी समाज की संस्कृति

की वाहक होती है। अर्थात् एक भाषा का मर जाना और एक संस्कृति का मर जाना है। आदिवासी भाषिक अस्मिता के संकट के प्रमुख कारण हैं - आदिवासी भाषा एवं संस्कृति के प्रति हेय दृष्टिकोण, वैश्वीकरण का प्रभाव, विस्थापन, बाहरी खुसपैठ मातृभाषा में शिक्षा का अभाव, आदिवासी शौक्षिक योजनाओं का अप्रभावी क्रियान्वयन, गैर-आदिवासी शिक्षकों का निकृष्ट व्यवहार एवं इससे उपजा भाषायी सांस्कृतिक हीनताबोध आदि।

मुख्यधारा समझनेवाला समाज ने आदिवासी भाषा एवं संस्कृति के प्रति हेय दृष्टिकोण प्रकट किया। रणेन्द्र का उपन्यास 'गायब होता देश' में मिसिर मास्टर का आदिवासियों के प्रति असहिष्णु दृष्टिकोण है - 'ई कोल लोग आठो क्लास पास कर जाएगा तो रिज़र्वेशन से मास्ट बन जाएगा। हमारे कुर्सिया पर बैठने लगेगा। ये ही बात रहे-रहे सुनाता। खजूर छड़ी से धुनते समय-अऊर ज़ोर ज़ोर से चिल्लाता, देखा ई कोल-बकलोल को, मास्टर बनेगा, अयं! मास्टर बनेगा रे?"[1]

जंगल में रहनेवालों के प्रति बाहरी लोगों का नज़र 'जंगली' है। इसकी ओर ध्यान देते हुए महादेव टोप्पो कहते हैं - "सभ्य समाज द्वारा बनाया मापदंड तथा स्थापित आदर्श यही है कि जो साक्षर नहीं है या जो शारीरिक श्रम करनेवाला मनुष्य है वह अकुशल, बुद्धु, गंवार, जंगली एवं जाहिल है, इसीलिए उन्हें एक आदिवासी का नाचना, गाना, उसके जीने सोचने का ढंग, उसकी, भाषा, बोली, उसकी परंपरा, उसकी आस्था,

1. रणेन्द्र - गायब होता देश,पृ. 252

विश्वास, उसके देवी-देवता, उसका इतिहास, उसके अतीत, वर्तमान और भविष्य सब कुछ अंधकारपूर्ण, पिछड़ा, असम्माननीय और हेय नज़र आता है।"[1] इस दृष्टिकोण का प्रभाव यह होता है कि आदिवासियों के साथ अमानवीय व्हार किया जाता है जिससे उनके भीतर हीनता बोध की ग्रंथि उत्पन्न हो जाती है। उनमें अपनी भाषा और संस्कृति के प्रति आत्मसम्मान का भाव खत्म होने लगता है। इस आत्म सम्मान के भाव का न होना भी आदिवासी भाषिक अस्मिता के लिए एक बड़ा संकट है। यदि आज आदिवासी अपने ऊपर छाटुए अस्मिता और अस्तित्व के संकट का सार्थक ढंग से प्रतिरोध नहीं कर पा रहे हैं तो कहीं न कहीं साँस्कृतिक आत्म सम्मान की कमी भी इसका प्रमुख कारण है। इसकेलिए आत्म सम्मान का आंदोलन होता है। आत्मसम्मान का आंदोलन एक ऐसा आंदोलन है जिसकी आदिवासियों को सख्त ज़रूरत है। आदिवासियों में विद्रोह तो बहुत हुए कभी औपनिवेशिक शोषण के खिलाफ तो कभी सामंती शोषण के खिलाफ। लेकिन आत्मसम्मान का वह आंदोलन नहीं हुआ जो उनको आत्मगौरव प्रदान करे और उनकी अस्मिता की रक्षा केलिए उनको खड़ा होना सिखाए।"[2] कहना अनावश्यक न होगा कि इस आत्मसम्मान के आंदोलन के लिए आदिवासियों का शिक्षित होना अनिवार्य है।

5.8 आदिवासी भाषाएँ और वर्तमान संदर्भ

कहा जाता है कि कोई भी जाति भाषा के बगैर गूँगी और साहित्य

---

1. रमणिका गुप्ता - आदिवासी कौन?, पृ. 44
2. रमेशचन्द्र मीणा - आदिवासी विमर्श, पृ. 4

के बगैर मस्तिष्कहीन होती है। शैक्षिक स्तर पर आदिवासी भाषा का पयोग नहीं किया गया है अभी तक। अगर एक आदिवासी को कम से कम आठठी कक्षा तक अपनी मातृभाषा में भी शिक्षा दी जाए तो बच्चे हीनता की ग्रान्र्थ से मुक्त हो जाएंगा। साथ ही वे तत्वों को सरलता एवं तेजी से ग्रहण करेंगे।

मुख्यधारा की भाषा न जानने के कारण या भाषा समस्या के कारण आदिवासी बच्चे पढ़ाई में उपेक्षा का अनुभव करते हैं। विकसित भारतीय भाषाओं को सीखने के क्रम में एक आदिवासी बच्चा दो तरह की मानसिक ग्रन्थियों का शिकार होता है। एक तो अपनी भाषा से कटता है और अपनी मातृभाषा को हीनभावना से देखता है। इस तरह वह अपनी भाषा, संस्कृति, परिवेश आदि की उन जड़ों से कटता जाता है, जहाँ से उसे जीवन की आधारभूत शक्ति प्राप्त होती है। दूसरी ओर विकसित भाषा को सीखने के क्रम में अपनी मातृभाषा से पृथक उच्चारण, व्याकरण, एवं वाक्य-रचना की पद्धति के कारण आत्मसात करने में देरी होगी।

नव-साम्राज्यवाद, बाज़ारवाद और भूमण्डलीकरण के सहारे भारत की बहुआयमी संस्कृति और भाषा को नष्ट करने के बहुविध हथकण्ड अपनाये जा रहा हैं। आदिवासी भाषाओं के साथ भी यही कार्य चल रहे हैं। भाषा की दुर्गति की ओर इशारा करते हुए डॉ. प्रभाकर सिंह का कथन हैं कि 'भूमण्डलीकरण की जो आँधी चल रही है उसमें भाषाओं के मरने का क्रम भी वही होगा जो उनके विकास का है। पहले वे भाषाएँ मरेंगी जो बोलचाल

की हैं फिर वो भाषाएँ मरेगी जिनकी केवल लिपी है और तब अन्त में उनकी मृत्यू होगी जिनकी लिपि भी है जो बोली भी जाती हैं और जिनकी प्रिंटिग भी होती है।"[1] वर्तमान संदर्भ में 'भाषा' के सामने अनेक खतरें है। इसकी ओरप सतर्क रहना और अपनी भाषा को संपन्न रखना आए मनुष्य के विकास के लिए अनिवार्य है।

5.9 उत्सव, पर्व, त्योहार और हाट-बाज़र

सीधे-सादे, परिश्रम से भरे आदिवासी जीवन में आनंद और उत्साह जगानेवाले मेलों का अपना अद्वितीय स्थान है। ये मेले 'हाट-मेले' या बाज़ार के रूप में जाने जाते हैं। ये हर सप्ताह एक दिन लगते हैं पर कुछ मेले पांच-सात हैं।

प्रत्येक आदिवासी समाज को अपनी संस्कृति तथा धर्म होता है, उसी के अनुसार प्रत्येक समाज में पर्व तथा त्यौहार अलग-अलग है। मनुष्य की मंगल अभिलाषाओं की अभिव्यक्ति से त्योहारों का जन्म हुआ है।

'समरशेष है' उपन्यास में हाट-बाज़ार का वर्णन है। 'डेडबरगा में इन्हीं लोगों ने साप्ताहिक हाट लगवाना शुरु किया। हाट में टिकुली, बिंदी, काजल, आईना, कंधी, किरासन तेल, नमक, कचौड़ी-फुल्लौरी की दुकान में सजाई जातीं। बाद में मिट्टी और अल्युमिनियम के बर्तन, चाकू, छुरियाँ, खुरपी, कुदाले आदि भी आने लगे। इनमें से बहुत-सी वस्तुएँ ऐसी थीं,

---

1. सं. अनुज लगुन - आदिवासी अस्मिता प्रभुत्व और प्रतिरोध, पृ. 58

जिनकी ज़रूरत आदिवासियों को नहीं थी, लेकिन धीरे-धीरे वे उनकी ज़रूरत बनने लगीं। आदिवासियों के पास आमतौर पर पैसे नहीं होते थे। इनकी कीमत वे धान, लाह, महुआ का मौसम में महुआ के फल-फूल से चुकाते। अदला-बदली का कोई मानक रूप नहीं था। बाद में धान के बदले या अन्य वन्य-सामग्रियों के बदले बनिया लोग पैसे भी देने लगे, लेकिन वह पैसा लौटकर उन्हीं के पास आ जाता है।"[1] यहाँ बाज़ार केन्द्रित संस्कृति में आदिवासियों को फँसाने की प्रक्रिया देख सकते है।

'धार' उपन्यास में संथाल परगना का वर्णन किया गया है। वे लोग अपनी मूलभूत संस्कृति को जड़ता के साथ स्वीकारते हैं। इसमें बाँसगड़ा के आदिवासी अपने-अपने धार्मिक पर्व और उत्सवों को पूरे उल्लास के साथ मनाते हुए दृष्टिगत होते हैं। उस समाज में जन्म से लेकर मृत्यू तक विविध प्रकार के विधि-विधान करते है। ऋतु के अनुरूप उत्सव मनाने की परंपरा पूर्व काल से देखी जाती है। इन उत्सवों में वे रात भर नाच-गान समूह में करते हैं। उपन्यास में शर्मा बाबू मंगर को सौतेल आदिवासियों के उत्सव संदर्भ में कहता है 'सुनिए मंगरजी, शर्मा की गंभीरआवाज़ पर सहन गया वह संथाल की यह परंपरा है वे भोज उत्सव में बछड़े का मांस उसी तरह खाते हैं जैसे हम दिक् लोग बकरे का मांस यह दिखुओं का भोज नहीं है, सौतालों का है।"[2]

'पहाड़' उपन्यास में दीवाली मनाना का चित्रण है। गाँव के लोग

1. विनोद कुमार - समरशेष है, पृ. 9
2. संजीव - धार, पृ. 18

स्वबाव से उत्सव प्रिय हैं। जैसे 'छेदी और झौरी के साथ दशरथ ने पूरी योजना तैयार कर ली थी कि दीवाली किस तरह मनाई जाएगी। पूरे पहाड़ पर दीये जलाए जाएँगे, इसके अलावा दरै के ऊपरी दो सिरों पर एक मोटी रस्सी बाँधी जाएगी जिसमें जगह-जगह जलते हुए दीपक लटकाए जाएँगे। दीवाली आने के दस दिन पहले ऊपरी सिरों के बीच की दूरी मापी गई। उसकी लंबाई की रस्सी तैयार की गई और रस्सी में किस तरह दीये लटकाए जाएँगे, यह गाँव में एक अलग चर्चा का बिषय बन गया। दीवाली के दिन पहाड़ के ऊपरी दोनों सिरों पर माँझी टोल के दस-दस लोगो लगे थे। फूल और पत्तियों से सजी हुई रस्सी को जितना वे लोग अपनी ओर खींचते उतनी ही जोर से हवा अपनी ओर खींचती । लगा कि रस्सी नहीं बाँधी जा सकती। मगर गमीमत थी कि हवा चलनी बंद हो गई और पहाड़ के दोनों सिरों के बीच रस्सी बाँध दी गई। रस्सी में बँधे दीपक जल उठे। पहाड़ के पोर-पोर में दीये जल उठे। ऐसा लग रहा था, जैसे आसमान के सितारे ठूठकर पहाडों पर आ अटके हों।"[1]

5.10 लोक शब्द

भाषा एक सामाजिक शक्ति है। भाषा किसी भी समाज की संस्कृति की वाहक होती है। अर्थात् एक भाषा का मर जाना एक संस्कृति का मर जाना है। जैसे ही '2012 ई के फरवरी माह में 'बो' भाषा की एकमात्र जीवित महिला 'बोआ सीनियर' की मृत्यू के साथ ही 'बो' संस्कृति की भी

1. निलय उपाध्याय - पहाड़, पृ. 195

मृत्यू हो गई। इस महिला की मृत्यू के साथ ही विश्व की एक भाषा की भी मृत्यू हो गई और साथ ही मृत्यू हो गई उस भाषा में निहित संपूर्ण परंपरागत प्रकृति और संस्कृति प्रदत्त 'बो' समाज के ज्ञान की।

किसी भी भाषा की पहचान उसमें प्राप्त सांस्कृतिक शब्दावली से होती है, किसी अंचल विशेष में जिस प्रकार का लोकजीवन और लोक संस्कृति होती है, उनको व्यक्त करने वाली सांस्कृतिक शब्दावली होती है। खेती-बाडी में संबंधित शब्द, धार्मिक और सामाजिक विधि-विधानों से संबन्धित शब्द, घर, वस्त्र, अलंकार, दैनंदिन कामकाज की वस्तुएं, विभिन्न प्रामी-पशू-पक्षियों, दैनंदिन क्रिया-कलाप, इन सब को जिन शब्दों में किया जाता है उसी को सांस्कृतिक शब्दावली कहा जाता है।

5.10.1 सांस्कृतिक लोक शब्दावली

ओकर (उसका) फउस (फ़ौज) भरम (भ्रम) जिकर (जिक्र) सफल (सफल) परिसरम (परश्रम) मर (मगर) हियाँ पे (यहाँ पर) का (क्या), बोइसा (वैसा) फेन (फिर) दूनों (दोनों) अंगरेज (अंग्रेज़) बखत (वक्त) नयँ (नहीं) पइसा (पैसा) डागर (डॉक्टर) ऊ (वह) गां (गाँव) उधिर के (वहाँ के) ओकरा (उसी के) नंय (नहीं) (पाँव तले की दूब' से) भगत (भक्त), एतना (इतना) भगती (भक्ति), ई (ये), आयो (माँ) गोमकाइ (मालकिन/ पत्नी) सुरुज (सूर्य) ओतना (उतना) का (क्या) एतना (इतना) ('ग्लौबल गाँव के देवता' से) कायें (क्यों), हुआं (वहाँ), दीकू (हिन्दू) हियाँ (यहाँ)

मौगी (औरत) कम्भी (कभी) तवभी (तभी) जेहल (जेल), फैटरी (फैक्टरी) परीशानी (परेशानी) पण्डिज्जी (पंडितजी) धरमजुद्ध (धर्म युद्ध) शास्तर (शास्त्र) सराध (श्राद्ध) बामन (ब्राह्मण) दू(दो) सुवीकार (स्वीकार) हमरा (हमारा) पतनी (पत्नी) फैदा (फायदा), डागडर (डॉक्टर) पंचेत (पंचायत), परनाम (प्रणाम), चेंगा (बच्चा) चाहता (चाहता) परमोसन (प्रमोशन) भौत (बहुत) मुसला (मुसलमान), असत (जरायमपेशा खानाबदो) जगा-उग्गा (यज्ञ-वज्ञ), चास-बास (खेती-बारी), कोच्छ(कुछ) परधान मंतरी (प्रधान मंत्री) किदर (किधर) **'धार'** से, उनियन (यूनियन) जऩसा (जैसा), ककही (कंधी) आपन आदमी (अपना आदमी) एसों (इस साल) ईहाँ (यहाँ) चुपेचाप (चुपचाप) ओतना (उतना) किरपा (कृपा) तुमरा (तुम्हारा) सिरफ (सिर्फ) हुशियार (होशियार) सरग (स्वर्ग) मनीजर (मैनेजर) पिट (खदान) चाणक (खदान का कुआँ) बंकर (जहाँ कोयला जमा होता है), चाल (सुरंग की छत), बाशरी (कोयले का कचरा साफ करने का संयंत्र) फायर ज़ोन (झरिया का वहग क्षेत्र, जिसके नीचे वर्षों से आग धधक रही है। **(सावधान, नीचे आग है'** से) पिरथा (प्रथा) धुमाल (दुश्मन पर हमला), तैने (तूमे) भुरेटीया (फिरंगी) आदि (**धूणी तपे तीर'** से) ततंग (दादाजी), बिरबोंगा (जंगल देवता), बुरु बोंगा (पहाड़ देवता) सगेन (फुनगी), जियंग (दादी) सरजों (साल वृक्ष) सारंडा (सात सौ पहाड़) जोहारा (नमस्ते), येरा (घरवाली) बोंगा (देवता) सयोब (साहब) हिली (भाभी) होरबोर, होरबोर (जल्दी-

जल्दी) अदिंग (रसोई) पोनाई (पूर्णिमा) लेकर लेकेर (लड़खड़ाना) सइ (टोला) हतु (गाँव) तिरिल (केन्दु) फल, कुचुरा (छुट्टा) मणि (कुंवारी लड़की)बुरु (पहाड़) किली (गोत्र), आयं लोः ते जुड़िनम? (मेरे साथ दोस्ती करोगी?) चिपचिपे रिप़िरिपि) (घुंघराले) मगर गोनगेंग (वधु मूल्य) गेल मोय (पन्द्रह) गेल (दस), सरितेगे (सच्ची) या सरितेगे (हाँ सच्ची), अंदि सकि (भुभ विवाह), लिटिब -लिटिब (धक-धक) अन्दु (पाजेब) कोवाहोन (बच्चे) कुई (शादी शुदा औरत) दंडि (चुड़ैल) कुबिराज (वैद्य) हिली (भाभी) बिड़ु-बिड़ (सांप-सांप) सेंदर (शिकार), गिरा (निमंत्रण) सरजोम (साल) (**'मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ'** से)

5.10.2 मुहावरे

मुहावरों की उत्पत्ति के संबंध में कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में लोगों द्वारा सामाजिक व्यवहार के समय अपने अनुभव और अनुभूति के आधार पर जो कुछ कहा गया वे वाक्यांश रूढ़ बनकर विशेष अर्थ देने लगे। ये ही वाक्यांश कार्यारंभ का बोध कराने लग गए।

'मुहावरा' अरबी भाषा का शब्द है जिसका अर्थ बातचीत करना या 'उत्तर देना' होता है।

मनुष्य अपनी बात की पुष्टि के लिए कुठ कुछ प्रमाण प्रस्तुत करता है ये प्रमाण लोकोक्तियाँ बन जाते हैं। लोकोक्ति का अर्थ होता है - 'लोक की

उक्ति', लोक में प्रचलित ऐसा पूर्ण अथवा अपूर्ण वाक्य होता है, जीसमें कोई न कोई अनुभव ज्ञान, उपदेश का निचोड़, नैतिक शिक्षा होती है।

गगन घटा घहरानी में मुहावरे - स्पर्श से नम हो, रौबीली आवज़, चिंता फन काढकर बैठ गयी, पसर पर फैली हुई, बैठ गये हैं केंडूकी मारकर, सुबह से जतरा ख़राब, गलियों की भूल भूलैया, टो-टोकर अपना रास्ता खोजना, अंधेरी अनाम कोठरी की दीवार, जूती बराबर न समझती, 'आधी-आधी - आँखों से मिलिर-मिलिर, ताकरहा है, ऊँच-नीच का कीड़ा, लाखों में एक' भयभीत आँखों से, आँसुओं की बाढ़ के धक्के खाती हुई, भूख अब पेटसे निकलकर आँखों में समा गयी। कड़वेपन को कडवे नीम से ही काटेगा, मन में दबी हुई चिनगारी, घर में दलिद्धर नाच रहा, खा-खाकर बैल भी अड जाता है, निर्मल सफ़ेद शिला की तरह, अहंकार सिर ऊँचा किये खडा था, गला सूखने, नींद में बेसुध पड़ी, अलग-अलग आँगन-दुआर, अलग-अलग चूल्हा-चक्की।

रेत उपन्यास में - अवसाद भरा-सन्नाटा, गलती का एहसास, भूसा भरवा दूँगी, कुहकुहाती कोयला-सी कूक, गेहुआ चेहरा तांबई हो उठा, चेहरे पर नज़रे गडाते, पुतलियों पर धुधुली झिल्ली, बाँछे खिल उठी, रँगे हाथ हत्थे चढ़ जाती, खून निचुड़ गाया, घर का जोगी जोगड़ा, आन गाँव का सिद्ध, पासे उलटे पड़ गए, पसीने-पसीने हो चुकी, बर्फ़ की शिला में तब्दील, नथुने

फड़फड़ाने, कबाब में हड्डी बनने, बे-सिर-पैर की बात करने, खून का घूँट पीकर रह गया, अधपके नासूर, शब्द हलक में ही उलझकर रह गए, मुस्कान में गाढ़ापन, अक्स से निगाहें क्या मिली पिंकी जैसे ज्वर से तप उठी हलक सूखने, जख्मों पर नमक छिड़क रही, नसें तड़कने, माथे पर फिर से पसीना चू आया, हाथ-पाँव एकाएक ठंडे पड़ गए, 'पाँव तले की दूब' से एक तीर से दो शिकार वाली बुद्धि, कच्चा समझकर छोड़ दिया, रहस्य में सेंध लगा, जलन पर मरहम लगाने गरज, अच्छा-खासा मिज़ाज लीद, खिसियाई नज़र से धूरा, श-म से लाल होना, धुंध में डूबे हाथ, उजले-उजले चमकते दांत, गूलहर के कीटों का विकास मात्र, कपाट के सुराखों से उजाला पत्थरपर पाँव जमाते हुए,। 'ग्लोबल गाँव के देवता' उपन्यास में अपमान की गाढ़ी काली रात, रात के बाद रौशनी, खूँट उखाड़ूँ और भाग निकलूँ, नींद और बिछावन से मुहब्बत, बिछावन पर पड़े-पड़े नींद की खुमारी का आनंद लेना, खूब भारी नाश्ता करते मनपसंद किताब थाम, पढ़ाई और नींद की खुमारी भरी जुगलबंदी, लातों के देवता हैं, बातों से नहीं मानने वाले, दिन प्रतिदिन बासी होती देह,। अल्मा कबूतरी उपन्यास में - जैसा बोया, वैसा काटा, तू न हो गया नाहर शेर हो गया, पीता है और ठेके का नाम सुनकर चौंकता है। चोर की दाढ़ी में तिनका, उतरती वय में चढ़ते आसमान, रहम के मरहम से घाव सूखते नहीं, हरे होते हैं, कटे नाखून-सा उलझकर दुःख देता है, न करना न धरना, ज़मीन-आसमान के कुलाबे जोड़ना, नौ सौ मूसे खाय बिलइया हज

करे, पके और मूँह बंद फोड़े को खोंटने से क्या मिलेगा, लाठी मारे पानी फटता है कभी, सावन के अंधे, हरा ही हरा देख रहे हैं, मरा हाथी सवा लाख, पेट में भय के गोले उठने इत्यादि।

5.10.2.1 लोकोक्ति

'गगन घटा घहरानी में' बूढ़े की आत्मा प्रकृति के मध्य से ही अपना आसिर्वाद लुटाती है, शादी-शुदा बेटी अपने घर ही शोभती है, धन -दौलत की की हो तो अपना ही देकर पाहुन को अपने पाँव पर खड़ा कर दो, सब पर शासन करने वाले को किसी स्त्री द्वारा शासित होना ही रूचता है, अभावग्रस्त मनुष्य के पास से थोड़ा-सा कुछ छिन जाय तो दुःख वैसे ही बढ़ जाता है, शिकार करते हुए इशारे और स्पर्श की भाषा बोली जाती है, युद्ध भी एक त्यौहार है, त्योहार भी एक युद्ध है, भूख और आज़ादी का कभी कोई मेल नहीं हो सकता। अन्याय का विरोध करना ही मर्दानगी है। 'रेत' में खिलावड़ी का बुढ़ापा और वकील की जवानी बड़ी बुरी होती है, जो मिल गया उसी को मुद्धा समझ लिया, लौंडिया की उमर दिनों से नहीं उसकी देह से नापी जाती है, ताकत चाहे दौलत की हो या रूप और देहकी, वह कितनी बडी होती है अगर इनमें से एक भी आपके पास है तो समझो आपसे बड़ा ताकतवर कोई नहीं है, 'पाँव तले की दूब' में बेचने वालाएक गुनी और खरीदने वाला तू दोसर गुनी,। अल्मा कबूतरी में - नाच-गीत ऐसी कला है,

जो अभिमानी ऋषियों का तप खंडित करती रही है प्यार भी वही कर सकता है जो ताकतवर हो, रहम के मरहम से घाव सूखनते नहीं, हरे होते हैं, समर्पण से समाज तो सुधरा नहीं, समाजवादी गुलछरे उड़ रहे हैं, न करना न धरना, ज़मीन-आसमान के कुलाबे जोड़ना, मरा हाथी सवा लाख, राजनीति में प्रीति और वैल्यू एक थैले में रखे जाते हैं, पढ़ा-लिखा आदमी ही सबसे पहले अपना जमीर बेच डालता है, भय से ज़्यादा ताकतवर कुछ भी नहीं, सत्ता के बिना पत्ता नहीं हिल सकता, खूबसूरत शरीर बदसूरत भविष्य गढ़ता रहता है, औरत और थाली, प्यार से परसी हुई ही संतोष देती है, प्यार तो पहाड़-सा भी हो, ढह जाता है, आदि।

निष्कर्ष

मनुष्य समाज में रहकर अनेक प्रकार के संस्कारों के द्वारा अपना जीवन को परिमार्जित करता है। जन्म से मृत्यू तक के आवश्यक विधि-विधानो के द्वारा मनुष्य सामाजिक जीवन में जो कुछ भी प्राप्त करता है अथवा अभिव्यक्ति के द्वारा एक-दूसरे को हस्तांतरित करता है, वह संस्कृति के अन्तर्गत माना जाता है।

किसी भी राज्य की पहचान वहाँ की संस्कृति होती है। भारत में तमाम संस्कृतियों के मुकाबिल आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है। आदिवासी संस्कृति का सबसे बड़ा महत्व जन्मजात गुणधर्मों में

सरलता, सहजता, सामूहिकता, समानता, प्रकृति से घनिष्टता की भावना है। आदिवासी संस्कृति का मूल तत्व उनके लोक साहित्य में देखा जा सकता है। जिसमें विपुल मात्रा में मानवीय मूल्य मिलते हैं। आदिवासी संस्कृति में आपसी लगाव, सहचरता और विश्वास की धूरी देख ने को मिलती है। लेकिन मुख्यधारा समाज की भोगवादी संस्कृति के बढ़ते प्रभाव ने आदिवासी जीवन को काफी प्रभावित किया। सरकार की विकास नीतियों के कारण आदिवासियों की मूलभूत आवश्यकताएँ पूरी नहीं हो पा रही है। उनके परंपरागत रीति-रिवाज़ों का लोप हो रहा है तथा उन्हें अपने मूल निवास स्थानों से निकल कर बाहरी समाज के साथ जीने की विवशता पैदा हो रही है। इससे उनके संस्कृतिक परंपरा और धार्मिक विश्वास उनसे दूर हो जाते हैं।

जिन लोगों की संस्कृति खत्म हो जाए तो उनकी पहचान भी खत्म हो जाती है। आज सरकार और पूँजीपति लोगों ने आदिवासी संस्कृति की पहचान मिटाने का कार्यक्रम करती है। समकालीन आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी संस्कृति के महत्वा की घोषणा करते हुए उन्हें बनाए रखते की माँग की जा रही है।

❖ ❖ ❖

उपसंहार

उपसंहार

आदिवासी यहाँ के मूल निवासी हैं। औपनिवेशिक युग के पूर्व आदिवासियों की अपनी स्वतंत्र सत्ता थी। जल जंगल और ज़मीन पर और प्राकृतिक संसाधनों पर उनका अपना अधिकार था लेकिन जब साम्राज्यवादी ताकतें और औपनिवेशिक सत्ताएँ मज़बूत होती गयीं तब से आदिवासियों के शोषण और उनके प्रति अत्याचार बढ़ने लगे। इसके खिलाफ वे अपनी स्वायत्तता और अस्मिता केलिए निरंतर संघर्ष करने लगे हैं। शिक्षा का प्रचार-प्रसार बढ़ने के कारण उन्हें अपने मूल्य और अस्तित्व का एहसास होने लगा। उन्होंने अपनी इस आत्म पहचान को अभिव्यक्त करने का प्रयास किया। आदिवासी विमर्श इसका परिणाम है।

समकालीन आदिवासी विमर्श अस्तित्व और अस्मिता का विमर्श हैं, जिसका लक्ष्य समाज और मानव कल्याण है। वह जनतांत्रिक है, समता और बराबरी का है। आदिवासी भाईचारों पर विश्वास रखते हैं।

युग-युग से प्रताड़ना, शोषण और भेदभाव से पीडित आदिवासी समुदाय ने अपने को पहचान लिया। उन्होंने विभिन्न आन्दोलन चलाये, अपने स्वास्थ्य और जीवन रीति को सुरक्षित रखने का संघर्ष किया और प्रतिरोध किया। इसका स्वरूप समकालीन साहित्यिक विधाओं में देखा जा सकता है, विशेषकर समकालीन हिन्दी आदिवासी उपन्यासों में। समकालीन आदिवासी

उपन्यासों में अपने समय के भोगे हुए यथार्थों का चित्रण हुआ है, जिसमें आदिवासी समुदाय की परंपरा रूढ़ियों, संस्कृति, न्याय-अन्याय, मान-अपमान और शोषण सब का बयान हुआ है। इस शोध कार्य केलिए आदिवासी और गैर आदिवासियों द्वारा लिखित आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यासों को चुना गया।

समकालीन संदर्भ में भूमंडलीकरण और विकास नीतियों के बढ़ते प्रभाव ने मानव जीवन को काफी प्रभावित किया जिससे आदिवासी समाज भी अछूता नहीं रहा। इससे उनका सामाजिक, आर्थिक-राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक ढाँचा क्षतिग्रस्त होने लगा। आदिवासी समाज के लिए सबसे बड़ी समस्या महाजनी शोषण, ज़मींदारी शोषण आदि थी। आज बहुराष्ट्रीय कंपनियों द्वारा इनके संसाधनों की लूट सरकारों द्वारा बनाई जानेवाली आदिवासी विरोधी नीतियाँ, भ्रष्ट अधिकारी वर्ग आदि उनका शोषण में लगा रहा है।

जैसे-जैसे आदिवासियों की आजीविका के साधन उनसे दूर किया जा रहा है वैसे-वैसे उनके आधार भूत कार्यकलापों में भी कमी आयी जा रही है। आदिवासियों से उनके वनों और उनके पूर्वजों की आवास भूमि छीनी जा रही है। बाहरी लोगों के हस्तक्षेप की वजह से उनकी अर्थ व्यवस्था को काफी धक्का पहुँचा है।

प्रत्येक विमर्श अमानवीयता के खिलाफ का संघर्ष है। आदिवासी साहित्य विशेषकर समकालीन आदिवासी उपन्यास राजनीति में व्याप्त हुए अंधकार के प्रति अपना विरोध जाहिर कर रहा है। अर्थ और राजनीति के सम्मिश्रण से आज जो विकास की नीतियाँ बनायी जा रही हैं वे आदिवासी जीवन को इतना कष्ट देती हैं कि अपना अस्तित्व ही नष्ट हो रहा है। विकास का अर्थ उनके लिए मात्र आर्थिक संपन्नता नहीं है। बल्कि अपनी पहचान और स्वीकृति भी है। लेकिन आज विकास के नाम पर राजनीति में अनैतिकता ही बढ़ती जा रही है। समकालीन आदिवासी उपन्यास इस खतरे से सजग करा रहा है, साथ ही उससे उबरने के रास्ते दिखा रहा है। राजनीति उनकेलिए आवश्यक है, लेकिन सकारात्मक ढंग से।

वर्तमान समय में बढ़ती हुई औद्योगिक व सामाजिक ज़रूरतों केलिए आदिवासी लोगों पर तथा जंगलों पर अत्याचार बढ़ता जा रहा है। हमें विकास चाहिए, विकसित होना भी अनिवार्य है। लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि विकास हमेशा सर्वसमावेशी और चहूँमुखी होना अनिवार्य है। लेकिन विकास की चकाचौंक में अक्सर आदिवासी वर्गों के हितों को अनदेखा किया जा रहा है। एक वर्ग के लाभ केलिए अनेकों पर अन्याय एवं अत्याचार करना कहाँ तक उचित है यह चिंता का विषय है। विकास के प्रति सभ्य कहनेवाले लोगों की आदत में परिवर्तन करना अनिवार्य है। क्योंकि

आदिवासियों को अनदेखा करते हुए चलने वाली विकास योजनायें उन लोगों के विस्थापन की वजह बनती है।

किसी भी राज्य की पहचान वहाँ की संस्कृति होती है। भारत में तमाम संस्कृतियों के मुकाबिले आदिवासी संस्कृति की अपनी विशिष्ट पहचान है। आदिवासी संस्कृति का सबसे बड़ा महत्व जन्मजात गुणधर्मों मे सरलता, सहजता, समानता प्रकृति से घनिष्ठता की भावना है। आदिवासी संस्कृति का मूल तत्व उनके लोकसाहित्य में देखा जा सकता है जिसमें विपुल मात्रा में मानवीय मूल्य मिलते हैं। जैसे ही वह तो जीता है और जीने देता है यहाँ तक कि पशुओं और जंगली जानवरों को भी जीने देता है। फिर भी मुख्यधारा समाज की भोगवादी संस्कृति के बढ़ते प्रभाव ने आदिवासी जीवन को बुरी तरह प्रभावित किया । सरकार की विकास नीतियों के कारण आदिवासियों की मूलभूत आवश्यकताओं, उनके वनों और पूर्वजों की आवास भूमि छीनी जा रही है। इससे अर्थ व्यवस्था को भी काफी धक्का पहूँचा है जिसके कारण आजीविका केलिए पलायन करने केलिए वे विवश बनते हैं। इससे उनके सांस्कृतिक परंपरा और धार्मिक विश्वास उनसे दूर हो जाते हैं।

आज शिक्षा के महत्व को समझाते हुए आदिवासी विमर्श साक्षरता और चेतना, जन-जागृति के अभियान के साथ आगे बढ़ रहा है। वर्तमान

समय की माँग भी यही है। यह जागृति से उत्पन्न प्रतिरोध किसी प्रकार की सत्ता प्राप्ति के लिए नहीं बल्कि अपने पूर्वजों की सदियों से निर्मित सृजनात्मकता को बचाने केलिए है। समकालीन आदिवासी उपन्यासों में आदिवासी जीवन संघर्ष की अनेक छवियाँ जीवंतता के साथ अंकित हैं। आदिवासी उपन्यासों की माँग यह भी है कि जीविका, शिक्षा स्वास्थ्य, रोज़गार वैज्ञानिक चिंतन, सम्मान आदिवासी जनता को उपलब्ध होना चाहिए।

निष्कर्षतः समकालीन आदिवासी जीवन पर केन्द्रित उपन्यास आदिवासी जीवन के कठोर यथार्थों को पेश करने के साथ उनसे बचने केलिए ज़रूरी मार्गों को रेखांकित करने को भी भूलते नहीं। वे प्रकृति की उपज हैं, इसलिए प्रकृति को बचाने के प्रयत्न के साथ उनके पोषण का रास्ता भी खुल जाता है। लेकिन पोषण का मतलब हम जैसे परिष्कृत जनसमूह को बनाना नहीं है, सभी प्राकृतिक सहजताओं के साथ उन धरती-पुत्रों को जीने का अधिकार देना है।

❖ ❖ ❖

संदर्भ ग्रंथसूची

संदर्भ ग्रन्थ सूची

मूलग्रन्ध

1.	अल्मा कबूतरी	मैत्रेयी पुष्पा राजकमल प्रकाशन प्रा. लि नई दिल्ली, सं. 2000
2.	काला पादरी	तेजीन्दर नेशनल पेपरबेक्स नई दिल्ली, सं. 2005
3.	काला पहाड़	भगवान दास मोरवाल कृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 1999
4.	गगन घटा घहरानी	मनमोहन पाठक वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 1992
5.	गायब होता देश	रणेन्द्र पेंगुइन प्रकाशन सं. 2014
6.	ग्लोबल गाँव के देवता	रणेन्द्र भारतीय ज्ञानपीठ इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदिरोड, नई दिल्ली, सं. 2010
7.	जंगल के आस-पास	राकेश वत्स वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली सं. 2002

8. जंगल के गीत — पीटर पॉल एक्का
सत्यभारती प्रकाशन
राँची - 2013

9. जंगल जहाँ शुरु होता है — संजीव
राधाकृष्ण प्रकाशन
दिल्ली, सं. 2000

10. जहाँ बाँस फूलते हैं — श्री प्रकाश मिश्र
यश पब्लिकेशन्स
दिल्ली, सं. 2011

11. जहाँ खिल है रक्त पलाश — राकेश कुमार सिंह
नेशनल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, सं. 2003

12. जो इतिहास में नही — राकेश कुमार
भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली, सं. 2005

13. डूब — वीरेन्द्र जैन
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 1998

14. धार — संजीव
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1999

15. धूणी तपे तीर — हरिराम मीणा
साहित्य उपक्रम
नई दिल्ली, सं. 2008

16. पार — वीरेन्द्र जैन
वाणी प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1999

17. पाँव तले की दूब — संजीव
प्रवीण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.1995

18. पहाड़ — निलय उपाध्याय
राधाकृष्ण प्रकाशन
नई दिल्ली, सं.2015

19. पहाड़ चोर — सुभाष पंत
राजपाल एण्ड सन्स
नई दिल्ली, सं. 1899

20. पहाड पर कोहरा — राकेश कुमार सिंह
भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2003

21. बाजत अनहद ढोल — मधुकर सिंह
वाणी प्रकाशन
दरियागंज,
नई दिल्ली, सं. 2005

22. माटी माटी अरकाटी — राधाकृष्ण प्रकाशन
प्राइवेट लिमिटेड
नई दिल्ली, सं. 2016

23. मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ — महुआ माजी
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

24. रेड जोन — विनोदकुमार
अनुज्ञा बुक्स
नई दिल्ली, सं. 2015

25. समर शेष है	विनोद कुमार प्रकाशन संस्थान नई दिल्ली, सं. 1992
26. सावधान! नीचे आग है	संजीव राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड़ नई दिल्ली, सं. 1986
27. हूलपहाडिया	राकेश कुमार सिंह सामयिक बुक्स नई दिल्ली, सं.2012

आलोचनात्मक ग्रन्थ

1. आदिवासी अस्मिता का संकट	रमणिका गुप्ता सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
2. आदिवासी अस्मिता की पड़ताल करते साक्षात्कार	सं. रमणिका गुप्ता स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2012
3. आदिवासी अस्मिताः प्रभुत्व और प्रतिरोध	सं. अनुज लुगुन अनन्य प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2015
4. आदिवासी केन्द्रित हिंदी साहित्य	डॉ. उषा राणावत अतुल प्रकाशन कानपुर, सं. 2012
5. आदिवासी कौन	रमणिका गुप्ता राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2008

6.	आदिवासी ग्रामों में टिकाऊ विकास की यथार्थ	सं. एन.एन. चौधरी कॉन्सेप्ट पब्लिशिंग नई दिल्ली, सं. 2013
7.	आदिवासी चिंतन की भूमिका	गंगा सहाय मीणा अनन्य प्रकाशन दिल्ली - 2017
8.	आदिम जाति सहकारिताओं की प्रबंध व्यवस्था	डॉ. बी.एल. गोयल ज्ञान विज्ञान संस्थान, हापुड, सं. 2016
9.	आदिवासी दुनिया	हरिराम मीणा नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया, नई दिल्ली, सं. 2013
10.	आदिवासी धार्मिक मान्यतायें एवं पर्यावरण	डॉ. सुनीता घोगरा खण्डेलवाल पब्लिकेशन्स एण्ड टिस्ट्रीब्यूटर्स जयपुर -2015
11.	आदिवासी जीवन	डॉ. अर्जुन दासकेशरी लोकरुचि प्रकाशन मिर्जापुर - 2013
12.	आदिवासी भाषा और शिक्षा	सं. रमणिका गुप्ता स्वराज प्रकाशन नई दिल्ली - 2012
13.	आदिवासी विकास से विस्थापन	डॉ. रमणिका गुप्ता राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली - 2008

14.	आदिवासी विमर्श इतिहास एवं संस्कृति	डॉ. विनोद विश्व कर्मा जे.टी.एस पब्लिकेशन दिल्ली, सं. 2016
15.	आदिवासी साहित्य विमर्श	सं. गंगा सहाय मीणा अनामिका पब्लिशर्स एण्ड डिस्ट्रिब्यूटर्स प्रा. लि. नई दिल्ली सं. 2014
16.	आदिवासी साहित्य विधाः शास्त्र और इतिहास	डॉ. बापूराव देसाई गरिमा प्रकाशन कानपुर 2013
17.	आदिवासी समाज और शिक्षा	रामशरण जोशी ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, सं. 1996
18.	आदिवासी समाज साहित्य और राजनीति	केदार प्रसाद मीणा अनुज्ञा बुक्स वेस्ट गोरख पार्क शाहदरा, नई दिल्ली, सं. 2014
19.	आदिवासी समाज एवं संस्कृति	शैला चह्वाणकदम रेशनी पब्लिकेशन कानपूर, सं. 2014
20.	आदिवासी साहित्य विविध आयाम	सं. रमेश संभाजी कुरे विकास प्रकाशन कानपूर, सं 2013

21.	आदिवासी स्वर और नयी शताब्दी	सं. रमणिका गुप्ता वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2011
22.	आधी दुनिया का सच	कुमुद शर्मा सामयिक प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2016
23.	आधुनिकता पर पुनर्विचार	अजय तिवारी भारतीय ज्ञानपीठ लोदी रोड नई दिल्ली, सं. 2018
24.	आधुनिक हिन्दी उपन्यास भाग -1	सं. भीष्म साहनी राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2010
25.	इको फेमिनिज़्म	डॉ. के. वनजा वाणी प्रकाशन दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2013
26.	इतिहास और संस्कृति	वीरेन्द्र मोहन शिल्पायन नई दिल्ली, सं. 2014
27.	उत्तर आधुनिकता	डॉ. रवि श्रीवास्तव नेशनल पब्लिशिंग हाउस नई दिल्ली, सं. 2011
28.	उत्तर आधुनिकतावाद और दलित साहित्य	कृष्णदत्त पालीवाल वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008

29.	उत्तराखंड हिमालय आदिवासी लोक संस्कृति	डॉ. श्याम सिंह शशि दिल्ली पुस्तक सदन दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2013
30.	उपन्यास और वर्चस्व की सत्ता	वीरेन्द्र यादव राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. नई दिल्ली, सं. 2009
31.	उपन्यास की समकालीनता	ज्योतिष जोशी भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2007
32.	औपनिवेशिक भारत में सांस्कृतिक और विचारात्मक संघर्ष	डॉ. के.एन. पणिक्कर ग्रंथ शिल्पी नई दिल्ली, सं. 2003
33.	औरतः अस्तित्व और अस्मिता	अरविन्द जैन राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
34.	झारखंड के आदिवासियों के बीच	वीरभारत तल्वार भारतीय ज्ञानपीठ नई दिल्ली, सं. 2012
35.	जनजातियों की बोली समाज और संस्कृति	डॉ. बी.एन. भालेराव आराधना ब्रदर्स कानपुर, सं. 2000
36.	नारी अस्मिता के विविध आयाम	डॉ. एम. षण्मुखन हिन्दी विभाग कोच्चि विज्ञान व प्रौद्योगिकी विश्व विद्यालय, सं. 2008

37.	नारी विमर्श दशाः और दिशा	सं. डॉ. एम फिरोसखान आकाश पब्लिशर्स एण्ड टिस्टीब्यूटर्स गजियाबाद, सं. 2010
38.	नक्सल बाड़ी के दौर में	सं. वीरभारत तलवार आकाश पब्लिशर्स एण्ड टिस्ट्रिब्यूटर्सठ गजियाबाद, सं. 2007
39.	निज घरे परदेशी	रमणिका गुप्ता वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2004
40.	पर्यावरण प्रदूषण और इक्कसवीं सदी	डॉ. सुजाता विष्ट तक्षशिला प्रकाशन हिन्दी पार्क, नई दिल्ली, सं. 1992
41.	पर्यावरण और संस्कृति का संकट	गोविंद चातक तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, पृ. 1992
42.	पर्यावरण प्रदूषण	गोपीनाथ श्रीवास्तव सुनील साहित्य सदन नई दिल्ली, सं. 2001
43.	पर्यावरण और हमारा जीवन	प्रेमचन्द मधुवाला कविता बुक्स सेंटर नई दिल्ली, सं. 2002
44.	पर्यावरण की चुनौतियाँ समस्याएँ तथा समाधान	डॉ. पी.के. शर्मा आर्य पब्लिकेशन्स पंजाब, सं. 2012

45. बाज़ार और समाजः विविध प्रसंग — गिरिश मिश्र
स्वराज प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2009

46. बाज़ार के बीच बाज़ार के खिलाफ — प्रेभा खेतान,
वाणी प्रकाशन,
नई दिल्ली, सं. 2004

47. भारतः इतिहास और संस्कृति — गजानन माधव मुक्तिबोध
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2014

48. भारतीय अस्मिता और हिन्दी — शंभुनाथ
सामयिक प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2012

49. भारतीय आदिवासी — डॉ. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा
जयभारती प्रकाशन
इलाहाबाद, 2010

50. भारत की जनजातियाँ — डॉ. शिवकुमार तिवारी
नदिने बुक्स सेंटर
नई दिल्ली, सं. 1992

51. भारत राजनीतिक व्यवस्था दशा और दिशा — शैलेन्द्र सेंगर
पुष्पांजलि प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 2005

52. भारतीय साहित्य की भूमिका — रामविलास शर्मा
राजकमल प्रकाशन
नई दिल्ली, सं. 1996

53.	मानव अधिकार शिक्षा	रामनिवास हुडा ए टी पब्लिशर्स नई दिल्ली, सं. 2011
54.	महिला रचनाकारों के उप्यासों में नारी सशक्तीकरण	डॉ. स्वाति नारखेडे विद्या प्रकाशन कानपुर, सं. 2012
55.	मैत्रेयी पुष्पा के उपन्यासों में नारी	डॉ. संतोष पवार विद्या प्रकाशन कानपुर, सं. 2012
56.	मुरिया और उनका घोटुला	वेरियर एलबिन राजकमल प्रकाशन प्रा. लि नई दिल्ली, सं. 2008
57.	वर्तमान समय में आदिवासी समाज	सं. डॉ. गीता वर्मा वाङ्मय बुक्स अलीगढ़, सं. 2012
58.	वीरेन्द्र जैन का साहित्य	सं. मनोहरलाल वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 1997
59.	विकास के कब्रगाहे	सुनील एवं ग्लैड्सन डुंगडुग देशज प्रकाशन राँची, सं. 2013
60.	शिवप्रसाद सिंहा के उपन्यास कथ्य और शिल्प	डॉ. अश्विनी कुमार पांडे अभय प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 1995

61.	संजीव व्यक्तित्व और कृतित्व	रामचन्द्र मारुरी लोंढ़े ए.बी.एस. पब्लिकेशन्स वारणासी, सं.2012
62.	समकालीन भारतीय समाज बदलता स्वरूप और संघर्ष	डॉ. कृष्णकुमार रत्तु जयपुर, सं. 2003
63.	सामाजिक मानव शास्त्र - परिचय	ड़ी.एन. मजुमदार एवं टी.एन मदन मयुर पेपर बुक्स नोएडा - 2008
64.	समकालीन हिन्दी उपन्यास	डॉ. एन. मोहनन वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली 110 002 सं. 2013
65.	समकालीन हिन्दी उपन्यासः समय से साक्षात्कार	डॉ. एलाडम विजयलक्ष्मी राधाकृष्ण प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2006
66.	समकालीन हिन्दी उपन्यासों में आदिवासी विमर्श	डॉ. शिवाजी देवरे विद्या प्रकाशन कानपुर, सं. 2013
67.	सामाजिक विघटन	डॉ. सत्येन्द्र त्रिपाठी उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ संस्थान, लखनऊ सं. 1998
68.	साहित्य का पारिस्थितिक दर्शन	डॉ. के. वनजा वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2011

69.	स्त्री अस्मिता के सवाल	डॉ. प्रभादीक्षित साहित्य निलय प्रकाशन कानपुर, सं. 2011
70.	स्त्रीत्व का उत्सव	राजकिशोर वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2003
71.	स्त्री-पुरुष कुछ पुनर्विचार	राजकिशोर वाणी प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2006
72.	स्त्री चिंतन की चुनौतियाँ	रेखा कस्तवार राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2013
73.	स्त्री होने की कथा	विजय बहादूर सिंह किताबघर प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2003
74.	स्त्री का मानचित्र	अनामिका सारांश प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2001
75.	हरिजन से दलित	सं. राजकिशोर वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004
76.	हरित भाषा वौज्ञानिक विमर्श	डॉ. के. वनजा वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नई दिल्ली, सं. 2015

77. हाशिये का वृत्तांत — सं. दीपक कुमार, आधार प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2008

78. हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों में आदिवासी जनजीवन — डॉ. भरत सगरे, दिव्या डिस्ट्रिब्यूटेर्स, कानपुर, सं. 2014

79. हिन्दी उपन्यास आज — डॉ. के. वनजा, कोच्चिन यूनिवेर्सिटी ऑफ साइन्स एण्ड टेक्नॉलजी, कोच्ची - 2007

80. हिन्दी उपन्यास का स्त्री पाठ — रोहिणी अग्रवाल, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2015

81. हिन्दी उपन्यास में नारी विमर्श — सं. डॉ. शोभा बेरेकर, अभय प्रकाशन, कानपुर, सं. 2010

82. हिन्दी उपन्यास जनवादी परंपरा — सं. कुंवरपाल सिंह, दिल्ली प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2004

83. हिन्दी में आदिवासी जीवन केन्द्रित उपन्यासों का समीक्षात्मक अध्ययन — बी.के. कलासवा, मयूर प्रकाशन, नई दिल्ली, सं. 2009

84. हिन्दी उपन्यास शिल्प और प्रयोग — डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्था, वाराणसी, सं. 1973

85.	हिन्दी उपन्यास उद्‌भव और विकास	डॉ. सुरेश सिन्हा अशोक प्रकाशन दिल्ली - 1972
86.	हिन्दी उपन्यास का इतिहास	गोपालराय राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं. 2002
87.	हिन्दी के आंचलिक उपन्यासों का लोकतांत्रिक विमर्श	डॉ. उषा डोगरा अनुभव प्रकाशन कानपुर, सं. 1984
88.	हिन्दी उपन्यासः समकालीन विमर्श	डॉ. सत्यदेव त्रिपाठी अमन प्रकाशन कानपुर, सं. 2000
89.	हिन्दी उपन्यासों में भारतीय संस्कृति	फूलदास महन्त क्लासिकल पब्लिशिंग कंपनी, सं. 2014
90.	ज्ञान का स्त्रीवादी पाठ	सुधा सिंह ग्रन्थशिल्प, दिल्ली - 2008

अंग्रेज़ी पुस्तकें

1.	Mayilamma (The life of a Tribal Eco-Warrior)	Jyothi Bai Pariyedath The Orient Blackswan 2018
2.	The Tribal Culture of India	L P Vidyarthi Vinayakumar Rai Hardbound Concept Publishing Co, 1985

मलयालम पुस्तकें

1.	माधव गाढकिलुम पश्चिघट्टा संरक्षणवुम्	सं. मनीला सी मोहन मातृभूमि बुक्स, कालिकट्ट सं. 2014
2.	काडिने चेन्नु तोडूबोल	न.ए. नसीर मातृभूमि बुक्स, कालिक्कट्ट, सं. 2014
3.	जीवन्टे निलानिल्प	वन्दना शिवा मातृभूमि बुक्स कालिकट्ट सं. 2014
4.	लोकाव्यापारा संघटनयुं ऊराक्कुटुक्कुकलुम	एम. पी. वीरेन्द्रकुमार मातृभूमि बुक्स कोषिक्कोड, सं. 2002
5.	परिस्थिति पठनङ्ङ्ल	सं. प्रो. पन्मना रामचन्द्रन नायर पी.के. परमेश्वरन नायर, मेम्मोरियल, ट्रेस्ट पुजप्पुरा, तिरुवनन्दपुरम सं. 2010
6.	आमसोणुम कूरे व्याकुलतकलुम	एम. पी. वीरेन्द्र कुमार मातृभूमि बुक्स कालिकट्ट, सं. 2001
7.	पातकल पुष़्ये माय्च्चत्, परिस्थिति पडनङ्ल	डॉ. ई. उण्णीकृष्णन चिंता पब्लिकेशन्स तिरुवनंतपुरम, 2013

8.	आदिवासीकलम् मुलमक्काडुकलुम	के.आर. सतीश नायर मातृभूमि बुक्स त्रिश्शूर, 2012
9.	गोत्रसत्यंङल	टी.वी. अच्चुतवार्यर ब्रह्मस्वमंड बिल्डिग एम. जि रोड़ त्रिश्शूर सं. 2003
10.	कोच्चेरत्ति	नारायण डि.सी. बुक्स, एरणाकुलम सं. 1998

पत्र-पत्रिकाऐं

1.	अनभै	मार्च - 2008
2.	आलोचना	जनवरी-मार्च 2013
3.	समीक्षा	अप्रैल - जून 2004
4.	समीक्षा	जूलै- सितम्बर 2004
5.	युद्धत आमआदमी	जनवरी - 2018
6.	अनुशीलन	जनवरी - 2013
7.	अनुशीलन	जनवरी - 2013
8.	वागर्थ	सितंबर 2014
9.	वर्तमान साहित्य	फरवरी - 2015
10.	मधुमती	जून - 1992
11.	हमदलित	अगस्त - 1998
12.	अंतिम जन	जून - 1986

13. आजकल	जून - 1986
14. नया ज्ञानोदय	मार्च - 2014
15. आलोचना	जुलाई - 2013
16. नई धारा	जून-जुलाई 2013
17. नई धारा	अगस्त -सितंबर 2015
18. भाषा	अगस्त - 2005
19. आदिवासी साहित्य	जून - 2018
20. चौमासा	जनवरी - 2005
21. वागर्थ	अगस्त - 2019
21. हंस	अप्रैल - 2008
22. समीक्षा	अप्रैल - जून - 2004
23. समीक्षा	जुलाई - सितंबर 2004
24. वाङ्मय	जनवरी - 2003

अंग्रेज़ी पत्र-पत्रिकाएं

इण्डीया टुडे	मई 2000
इंडिया टुडे	जून 2008

कोश ग्रन्थ

1.	आधुनिक हिन्दी शब्दकोश	गोविन्द चातक तक्षशिला प्रकाशन नई दिल्ली, प्र.सं. 1986
2.	हिन्दी साहित्य कोश (भाग 1)	धीरेन्द्र वर्मा (सं) ज्ञान लिमिटेड प्र.सं. 1985

परिशिष्ट

परिशिष्ट

शोध छात्रा के प्रकाशित शोध लेख

1. नवजागरण और सियारामशरण गुप्त - अनुशीलन (शोध पत्रिका जनवरी 2018) आई.एस.बी.ए.न - 978-81-944045-0-7
2. आदिवासी जीवनसंघर्ष एवं प्रतिरोध का दस्तावेज़ः धूणी तपे तीर- हिन्दी साहित्य एवं आदिवासी विमर्श सं. डॉ. अनीता. पी.एल विद्या प्रकाशन, कानपूर, 2018
3. नवजागरण के संदर्भ में तोट्टियुडे मकन और अयलक्कार - अनुशीलन (शोध पत्रिका) जनवरी - 2017

राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रपत्र प्रस्तुति

1. निराला और बिल्लेसुर बकरिहा
2. पारिस्थितिक विमर्श और आदिवासी उपन्यास
3. आदिवासी जीवन संघर्ष एवं प्रतिरोध का दस्तावेज धूणी तपे तीर